मूल्य ३ ००

●प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली

●मुद्रक
श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस
दिल्ली

●चित्रकार
एन० छापघर

●आवरण व रूपसज्जा
एसोसिएटिड आर्टिस्ट्स
नई दिल्ली

दो शब्द

'साठ वर्ष एक रेखांकन' में मेरी चार वार्ताएँ संगृहीत हैं, जो इधर आकाशवाणी से प्रसारित हो रही हैं। इन्हें सुन्दर पुस्तिका रूप में पाठकों को भेंट करने का श्रेय राजकमल प्रकाशन को है।

इन निबंधों में मैंने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में अपने साहित्यिक जीवन के क्रम-विकास की रूप-रेखा भर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। मेरे व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष को इनमें पर्याप्त स्थान नहीं मिल सका, उसके लिए उपयुक्त क्षेत्र तथा अवसर भी नहीं था। मेरे साहित्य को हृदयंगम करने में मेरे मानसिक जीवन-प्रवाह के ये पद-संकेत, सम्भवतः, सहायक हो सकें, इसी आशा से, मेरे मन ने इन्हें प्रकाशन की स्वीकृति दी है। इसके अतिरिक्त यदि इनसे पाठकों का मनोरंजन भी हो सका तो मुझे प्रसन्नता होगी।

१८/७ बी० कस्तूरबा गांधी मार्ग, सुमित्रानंदन पंत
प्रयाग, १० मई, १९६०

प्रकृति का अंचल
१९०७-१९१८ ९

विकास-युग और अंतःसंघर्ष
१९१९-१९३० २४

प्रभाव और बाह्य संघर्ष
१९३१-१९४८ ४३

नव मानवता का स्वप्न
१९४९-१९५९ ६०

प्रकृति का अंचल

सन् १९०७ से १९१८ तक

जब स्मृति-पथ से मन को विगत की ओर ले जाता हूँ तो आँखों के सामने, जैसे, फूलों के किसी अम्लान स्तवक से अनेक रंग-गंध की पंखुड़ियाँ झरने लगती हैं—ऐसी प्रतीत होती हैं सब वे किशोर-जीवन की क्षण-मधुर घटनाएँ! उन सविराम वेगों को ध्यान में रखते हुए यह कठिन हो जाता है कि उनमें से कौनसे रंग-गंध मधु के क्षण चुने जायें, जिन्हें स्मृति अपने धुंधले आँचल में सब से सँजोये हुए है। मेरा जन्म सन् १९०० में २० मई के दिन हुआ था। मेरी जन्म-भूमि कौसानी है, जिसे कूर्मांचल की एक विशिष्ट सौन्दर्य-स्थली माना जाता है जिसकी तुलना गांधीजी ने स्विट्ज़रलैंड से की है और जहाँ जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं के उपभोग के लिए, निर्जन सौन्दर्य किस तरह ही यहाँ उगाया जाता है।

जाता तो मुझे ऐसा प्रतीत होता जैसे मेरा हृदय फिर से अपनी खोई हुई संगीत की लय में बँध गया हो। कौसानी मेरे लिए स्वप्नों की रजत हरित झील-सी थी जिससे वियुक्त होकर मेरे प्राण बालू में मछली की तरह छटपटाते रहते थे।

अल्मोड़ा के नागरिक वातावरण में मुझे अपनी ग्राम-जीवन की सीमित रुचियाँ तथा मनोविज्ञान की [illegible] खटकने लगीं। गाँव के छोटे-से घर से अल्मोड़े में पिताजी की विशाल सुन्दर अट्टालिका में रहने से एक विशेष प्रकार के गौरव का अनुभव होने लगा। प्रकृति के एकान्त सौंदर्य के अभाव की पूर्ति धीरे-धीरे नगर के सुख-वैभव का जीवन करने लगा। सबसे पहले मेरा ध्यान अपने नाम पर गया। कौसानी की पाठशाला में मेरा नाम गुसाईंदत्त था। पिताजी ने माँ की मृत्यु के बाद मुझे एक गोस्वामीजी को सौंप दिया था, जिसके कारण मुझे भी लोग गोसाईं या गुसाईं कहते थे। मेरे गले में एक रुद्राक्ष भी बँधा रहता था। अल्मोड़ा आने पर अपना नाम मैंने स्वयं ही सुमित्रानन्दन रख लिया था। मेरे बड़े भाई ने एक बार बचपन में कहा था कि अंग्रेजी कालेज में उनके किसी मित्र का नाम सुमित्रानन्दन था, जो उन्हें पत्र भी लिखा करते थे। उन्हीं के नाम से मैंने अपना नाम रखा। पर मुझे उनका बिलकुल भी स्मरण नहीं है। मेरी माँ का नाम सरस्वती था, जिसे मैंने अपनी रचना में [illegible] का रूप दे दिया था। अपना नाम मैं कौसानी में भी माँ के नाम से जोड़ना चाहता था, पर सरस्वतीनन्दन मुझे न जाने क्यों पसन्द नहीं आता था। क्योंकि मैं घर में छोटा भाई था, इसलिए मैंने मन से अपना नाम सुमित्रानन्दन [illegible] पसन्द किया। [illegible] ने इस नाम के पीछे [illegible]



काम नहीं चल सकता था। शहर के अनेक क्रिया-कलापों को देखकर एवं उनमें सम्मिलित होने का अवसर पाकर दृष्टिकोण स्वतः ही व्यापक होने लगता है। सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रभाव अल्मोड़े में मेरे मन में पहले-पहल श्री स्वामी सत्यदेवजी के विचारों तथा भाषणों का पड़ा, जो सप्ताह में दो-एक बार अवश्य ही सुनने को मिल जाते थे। स्वामीजी के भाषण देश-प्रेम तथा भाषा-प्रेम से ओत-प्रोत रहते थे। वह अन्त में राष्ट्र-प्रेम के अपने भजन भी सुनाया करते थे। अपने भाई तथा स्वामीजी के काव्य-पाठ के ढंग से मेरे मन में यह बात अपने-आप ही बैठ गई थी कि कविता को गेय होना चाहिए। स्वामीजी के प्रयत्नों से नगर में 'शुद्ध साहित्य समिति' के नाम से हिन्दी का एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी खुल गया जो मेरे हाईस्कूल पास कर लेने के बाद भी कुछ वर्षों तक चलता रहा। पुस्तकालय का संचालन सब बड़े सुचारु रूप से होता था। उसमें उस समय की अनेक प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ तथा प्राचीन-नवीन प्रकाशनों में काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, जीवनी आदि सभी प्रकार के ग्रन्थों का अच्छा संग्रह हो गया था। कौसानी में मेरे मन में साहित्य-प्रेम के बीज पड़ ही चुके थे, अल्मोड़ा आकर वे पुष्पित-पल्लवित होने लगे। स्कूल की पुस्तकों से मेरा जी हटकर साहित्य के रस-सरोवर में निमग्न रहने लगा। कहानी, उपन्यास, कविता आदि सभी प्रकार के ग्रन्थों का मैं अपने कमरे के एकान्त में स्वाद लिया करता था। अपने को सबसे छिपाए रखने की मुझमें प्रकृतिदत्त भावना रही है। एकान्तप्रियता का मेरा गोपन स्वभाव धीरे-धीरे साहित्यिक अनुराग से उर्वर हो उठा। स्वभावतः ही अन्त-र्मुखी होने के कारण तथा समवयस्कों से मिलने-जुलने तथा उनके साथ खेलने-कूदने में किसी प्रकार का उत्साह न होने

भी वृद्धि होने लगी। श्री जोशीजी तथा श्यामाचरणजी के सम्पादन में तब अलमोड़ा से एक या दो हस्तलिखित साहित्यिक पत्र निकलने लगे, जिनमें मैं प्राय: नियमित रूप से लिखा करता था। वे मुख्यत: मेरी छन्द-साधना के प्रयोग रहे हैं। सन् १९१७ के हस्तलिखित 'सुधाकर' नामक मासिक के मई के अंक में मेरी एक छोटी-सी रचना 'शोकाग्नि और अश्रुजल' मिलती है जिसे यहाँ उद्धृत करता हूँ :

जो शोक अग्नि से अति ज्वाला कराल उठती
वह अश्रु बिन्दु जल के क्यों रूप में बदलती ?
क्या यह नहीं बताती सम्बन्ध जल अनल में ?—
क्या ? वह तुम्हें जलाता औ' मैं तुम्हें बुझाता !

उस काल की मेरी रचनाओं में मुख्यत: श्री गुप्तजी तथा हरिऔधजी का प्रभाव छन्द तथा शब्द-योजना की दृष्टि से लक्षित होता है। तब 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग', 'प्रियप्रवास', 'कविता कलाप' आदि काव्य-ग्रंथ तथा मिश्रबंधु विनोद और हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय के अनेक उपन्यास 'छत्रसाल' आदि तथा कहानी-संग्रह 'गल्प-गुच्छ' आदि का तथा बंकिम बाबू के अनुवादों का अल्मोड़े में बड़ा प्रचार था। खड्गविलास प्रेस तथा श्री वेंकटेश्वर प्रेस के प्राचीन साहित्य सम्बन्धी ग्रंथ तथा अन्य भी अनेक पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से उन दिनों हमें अपनी साहित्यिक रुचि की रचना करने में सहायता मिली थी जिनकी छाप मेरी तब की बाल-कृतियों में, सम्भवत: मिल सकती है। पर मेरे कतिपय विषयों में तब नवीनता भी मिलती है। 'तम्बाकू का धुआँ', 'कागज के फूल', 'सिक्के का धन्धा' आदि अनेक रचनाएँ उन्हीं दिनों लिखी गई थीं, जिनमें शब्द-योजना की दृष्टि से, अलंकार तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से, परिपक्वता भले ही न रही हो पर भावना की दृष्टि से उनमें मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। 'तम्बाकू का धुआँ'

आँखे मूँदकर जब अपने किशोर-जीवन की छाया-वीथी मे प्रवेश करता हूँ तो नीली प्लेटो से पटी, ढालू छत के पहाडी घर का चहारदीवारी से घिरा छोटा-सा आँगन पलको मे नाचने लगता है। एक ओर पत्थर का पक्का चबूतरा, दूसरी ओर छोटा-सा मदिर है। चबूतरे पर बैठा मै पढता हूँ और काँस की ढेरी-सी गोरी बूढी दादी की गोद मे सिर रखकर, साँझ के समय, दनकथाएँ और देवी-देवताओ की आरती के गीत सुनता हूँ। वडी परिहास-प्रिय है मेरी दादी! उनकी क्षीण दतहीन कठध्वनि— 'माई के मँदिरवा मे दीपक बारूँ' या 'हो रही जैजेकारी शिवा तेरे बाँके भवन मे' पहाडी झुटपुटे मे अब भी नीद लाने वाली झीगुर की झनकार-सी गूँज रही है। आँगन के उस छोटे-से मन्दिर मे कोई प्रतिमा या मूर्ति नही है। बचपन का जिज्ञासा-भरा मन छोटे-से द्वार से बार-बार भीतर पैठकर धुँधलके मे कुछ टटोलता हुआ-सा, घबडाकर बाहर निकरा



होकर मैंने वह रचना 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका में छपने के लिए श्री द्विवेदीजी के पास भेज दी थी। सप्ताह-भर के भीतर ही द्विवेदीजी ने गुप्तजी के हस्ताक्षर के नीचे 'अस्वीकृत, म० प्र० द्वि०' लिखकर रचना मेरे पास लौटा दी।

सन् '१६ से लेकर '१८ तक की मेरी रचनाओं के दो संग्रह 'कलरव' तथा 'नीरव तार' के नाम से थे जो सन् '२० में हिन्दू बोर्डिंग हाउस में मेरी चारपाई में आग लग जाने के कारण जल गए। उन दिनों मैं चारपाई के पाये पर मोमबत्ती रखकर लेटकर पढ़ा करता था। मेरी अनुपस्थिति में मोमबत्ती के जलकर समाप्त हो जाने पर उसकी बत्ती से बिस्तरा, चारपाई तथा खिड़की का एक किवाड़ जलकर राख हो गया था। इन संग्रहों की प्राय आधी दर्जन रचनाएँ जो मुझे स्मरण थीं पीछे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में सम्मिलित कर दी गईं। 'कलरव' तथा 'नीरव-तार' नामक कविताएँ अपने परिवर्तित रूप में 'गुंजन' की कविताओं में मिला दी गईं। 'नीरव तार' तथा उस समय की कुछ अन्य रचनाएँ हिन्दू बोर्डिंग हाउस की पत्रिका में भी प्रकाशित हुई थीं जिसके सम्पादन विभाग में तब मित्रवर श्री रामनाथ सेठ भी थे। उसी समय की मेरी कुछ रचनाएँ [illegible] से प्रकाशित 'हिमालय' नामक मासिक-पत्र में, प्रयाग की 'मर्यादा' नामक पत्रिका तथा मेरठ से निकलने वाली 'ललिता' नामक पत्रिका में भी प्रकाशित हुई थीं।

अल्मोड़े में मुझे स्मरण है कुछ समवयस्क साहित्यिकों ने मेरे प्रत्यक्ष विरोध में एक दल सा गुट बना लिया था। मेरी अनेक कविताओं पर कुछ नामों तथा उपनामों से व्यंग्यात्मक प्रतिक्रियाएँ भी निकली थीं। मैं स्वभाव से संकोचशील, विनम्र तथा सुकुमार था। लोगों के विरोध की सन्निधि ने मेरे प्राणों में एक अजीब कम्प-

आता है। एक ओर दो आड़ू के पेड़ हैं—एक मेरा, दूसरा मँझले भइया का। आड़ू की डालें हलकी ललछौंही कलियों से लद जाती हैं और आँखें एकटक उनके फालसई आकाश में खो जाती हैं। चहारदीवारी के बाहर हरे-भरे प्रसार और नीली रुपहली ऊँचाइयाँ हैं, जिनमें मेरा मन बहुत रमता है। बाईं ओर, लम्बे चौड़े गहरे हरे रंग के मखमली कालीन-सी फैली, कत्यूर की जादू की घाटी है। सामने गेरुवी मिट्टी की पहाड़ी में कई टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियाँ साँप की केंचुली-सी पड़ी कल्पना को भटकाती हैं। पहाड़ी के ऊपर कोंपलों का मर्मर करता हुआ रंग-बिरंगा अन्त-रिक्ष बाँज के वृक्षों की रुपहली वनाली, और ऊँचे ढालों पर घना चीड़ का वन है। अहाते के बाहर ही प्रहरी-सा ऊँचा देवदार आसमान की ओर हरियाली का फव्वारा-सा फूट पड़ा है। उसकी शोभा-गरिमा का क्या कहना! वह घनी हरीतिमा का निरन्तर काँपता हुआ एक पर्वत-शिखर ही तो है। उसके पके फलों से जब पीली-पीली सुनहली भर-भर हवा के आँचल को रँग देती है तब तो मन त्योहार मनाने लगता है, एक अजब-सी खुशी नस-नस में दौड़ने लगती है। किन्तु इन सबके ऊपर, बहुत ऊपर, और बहुत ऊँचा 'स्थित पृथिव्या इव मानदण्डः' स्वयं नगाधिराज देवात्मा हिमालय, अपने दूर दिगन्तव्यापी धवल प्रसार, मानो शुभ्र राजमराल की तरह, निःसीम में निर्बाध उड़ता हुआ-सा, दृष्टि को आत्मसंतर्पित तथा मन को आत्म-विस्मृत कर देता है। 'आत्मिका' नामक रचना में मैंने कौसानी का वर्णन इस प्रकार किया है :

हिमगिरि प्रांतर था दिक् हर्षित, प्रकृति क्रोड़ ऋतु शोभा वर्धित,
गंध गुँथी रेशमी वायु थी, मुक्त नील गिरि पर्वों पर स्मित!
[illegible] हिमगिरि पर्वतों पर रहा प्रात यह मरकत मणि घन,
पदानत,—आरोहण के प्रति मुग्ध प्रकृति का प्राण समर्पण!

इससे निर्मम तथा कुरूप रूप मेरे प्रति कभी धारण नहीं किया। मेरे शांत निश्छल स्वभाव ने सभी परिस्थितियों में मेरी रक्षा ही नहीं की, मुझे स्कूल के छात्रों के प्रेम तथा प्रशंसा का भी पात्र बनाया।

स्कूल के नाटकों में मुझे अधिकतर स्त्री-पात्रों का ही अभिनय करने को मिलता था। प्रयाग आने पर भी मैं डी० एल० राय के नाटकों में प्रायः स्त्री-पात्रों की ही भूमिका में उतरा हूँ। नवीं कक्षा में एक बार जब मैं अभिमन्यु बना था तब हैडमास्टर साहब की आंग्ल-पत्नी ने स्टेज पर आकर मुझसे कहा था कि तुम राजकुमार का पार्ट खेलने के लिए ही बने हो। मुझे स्मरण है जब अभिमन्यु की मृत्यु के बाद अप्सराओं ने प्रवेश कर 'उठो वीर चलो सुर-राजभवन, तुम बिन चन्द्रलोक अँधियारो, सूनो देव सदन' आदि करुण गीत गाया था तब बहुत से दर्शक रोने लगे थे।

इस प्रकार मेरे किशोर कवि-जीवन के अनेक सुनहली स्मृतियों में लिपटे प्रारम्भिक वर्ष कौसानी और अल्मोड़े में प्रकृति की एकान्त छाया में व्यतीत हुए। अल्मोड़े का वर्णन अपनी एक रचना में मैंने इस प्रकार किया है :

'लो, चित्र शलभ-सी पंख खोल उड़ने को है कुसुमित घाटी,
यह है अल्मोड़े का वसन्त, खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी!'

सन् १९१८ में मेरे मँझले भाई स्व० मैट्रिकुलेशन पास कर लेने पर क्वीन्स कालेज में शिक्षा प्राप्त करने बनारस गये तो मुझे भी उनके साथ के लिए भेज दिया गया। सुदूर क्षितिज में पंख फैलाये हुए पक्षी की तरह अल्मोड़े की चपल प्रसन्न निर्झर सुन्दर घाटी को छोड़कर जाने से मुझे दुख तो हुआ, पर काशी को देखने का उत्साह भी मेरे मन में कम नहीं था।

'कूर्माचल' नामक मेरी दूसरी रचना मे कौसानी की स्मृति इस प्रकार अंकित है :

> **छुटपन से विचरा हूँ मैं इन धूप-छाँह शिखरों पर**
> **दूर, क्षितिज पर हिल्लोलित सी दृश्यपटी पर नि स्वर**
> **हलकी गहरी छायाओ के रेखांकित-से पर्वत**
> **नील, बैंगनी, रक्त, पीत, हरिताभ वर्ण औ छहरा**
> **मोहित अतर में भर देते आदिम विस्मय गहरा,**
> **अंतरिक्ष विस्फारित नयनो को अपलक रख तद्वत् !**

प्रकृति के ऐसे मनोरम वातावरण मे मेरा मन अपने-आप उस निर्निमेष नैसर्गिक शोभा मे तन्मय रहना सीखकर एकात-प्रिय तथा आत्मस्थ हो गया। मेरे प्रबुद्ध होने से पहले ही प्राकृतिक सौन्दर्य की मौन रहस्य-भरी अनेकानेक मोहक तहें, अनजाने ही, एक के ऊपर एक, अपने अनन्त वैचित्र्य मे, मेरे मन के भीतर जैसे जमा होती गई । अपने पिताजी के शात, उदार व्यक्तित्व का भी छुटपन मे मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा । उनका उन्नत शरीर शंख के मदिर के समान गौर तथा पवित्र था । वह अपने निर्भीक, निश्छल चरित्र के कारण एक जीवित हिम-शिखर-से लगते थे। पिताजी के पास अनेक उच्च-कोटि के साधु-संत आते रहते थे, जिनके लिए अज्ञात रूप से मेरे मन मे कहीं गंभीर स्थान रहा है। प्रकृति की उस शुभ्र निभृत अधित्यका मे, मेरे किशोर-मन को पार्श्व-भूमि के सौन्दर्य के अतिरिक्त जिन धार्मिक तथा साहित्यिक प्रभावो ने छुआ उनमे एक प्रमुख प्रभाव मेरे बड़े भाई का भी है। मेरे भाई उच्च साहित्यिक रुचि रखते थे। वह अत्यन्त मुग्ध कंठ से 'मेघदूत' तथा 'शकुन्तला' के छंद नदी नाभी को सुनाकर, मानो, उनसे प्रणय-निवेदन करते थे। संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य का उनका अच्छा अध्ययन था। हिन्दी तथा पहाड़ी दोनों मे कविता भी करते थे। संस्कृत के वृत्तों मे उनकी कुमाउनी कविताएं बड़ी

व्यक्त की है। श्रीमती नायडू की शब्द-योजना तथा रवीन्द्र की कल्पना, सौन्दर्य-बोध तथा उनकी रचनाओं में निहित असीम के स्पर्श ने मेरे मन को प्रभूत रूप में अभिभूत किया। इन कवियों से कल्पना तथा सौन्दर्य के पंख लेकर मेरा मन भीतर-ही-भीतर किसी नवीन अनुभूति के भावना-लोक में उड़ जाने के अविराम प्रयत्न में जैसे लगा रहता था। मुझे स्मरण है मैं अपने लम्बे कमरे में अथवा सामने की एकान्त छत पर अनमने चित्त से घूमता हुआ अपने मन की मूक एकाग्रता में कविता की उस सौन्दर्य और रहस्य-भरी स्वप्न-भूमि का साक्षात्कार करना चाहता था, जिसकी झाँकियाँ मुझे श्रीमती नायडू तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओं में मिलती थीं और जिसे वाणी देने के लिए मेरे भीतर व्यंजना की पृष्ठभूमि रीतिकाल तथा द्विवेदी-युग के कवियों के रसबोध तथा रूपबोध से भरी मधुर नागर रचनाएँ अज्ञात रूप से निर्मित कर रही थीं। मेरी 'प्रथम-रश्मि' तथा 'बाल्यापन' शीर्षक कविताएँ बनारस ही में लिखी गई थीं। स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों पर मैं रात-दिन दृष्टि-भर दौड़ा लिया करता था। हाईस्कूल की परीक्षा समाप्त होने पर जब मैं छुट्टियों में फिर से कौसानी की 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश' वाली काव्यभूमि में पहुँचा तो वहाँ मैंने अधिकांश 'वीणा' लिखी के 'ग्रन्थि' तथा '[illegible]' नामक छोटा-सा खण्डकाव्य लिख डाला। उसकी शैली तथा भावभूमि में मैंने सम्भवतः बनारस में संचित अपने ज्ञान-संस्कारों को अपनी किशोर कल्पना के अनुरूप वाणी देने की चेष्टा की हो।

बनारस में मुझे कॉलेज के सहपाठी मि० मुखर्जी से कभी-कभी 'गीतांजलि' [illegible] में कवीन्द्र की बंगला कविताएँ भी सुनने का सुखद संयोग प्राप्त होता

मार्मिक होती थी और 'अल्मोड़ा अखबार' नामक साप्ता-
हिक में भी पीछे प्रकाशित होती रहती थी। भाई के पास
'सरस्वती' पत्रिका तथा 'वेंकटेश्वर' समाचार पत्र आते थे।
उनके पुस्तकालय में हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा व्रजभाषा
के अनेक ग्रन्थ थे। मेरी बहन को भी साहित्य से स्वाभा-
विक अनुराग था। इसके अतिरिक्त घर में भागवत, गीता
तथा रामायण का पाठ प्रायः नित्य हुआ करता था। मेरे
फूफा अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से प्रातःकाल यजुर्वेद का
पाठ कर-सञ्चालन-पूर्वक किया करते थे। कभी-कभी
फूफाजी की तरह हाथ नचाकर मैं वैदिक मन्त्रों की ध्वनियों
की नकल उतारकर मित्र-मण्डली का मनोरञ्जन किया
करता था। संगीत का प्रेम मेरे सभी भाई-बहनों तथा
चचेरे भाइयों को रहा है। स्वर-ताल का ज्ञान मुझे बचपन
से ही था और भैरवी, काफी, भूपाली, कल्यान आदि प्रमुख
रागों को भी मैं तब पहचान लेता था। उत्सव और त्योहार
घर में बड़े समारोह से मनाए जाते थे।

कौसानी में तब चाय का बगीचा था जिसमें झुण्ड-के-
झुण्ड पहाड़ी युवक-युवतियाँ काम करते थे। सवेरे-शाम
प्रायः उनकी टोलियाँ गाती हुई सँकरी पहाड़ी पगडंडियों पर
निकलती थीं। त्योहार के दिनों में संगीत वाद्यों से उनके
नाच-गानों का दृश्य मनोमोहक होता था।

ऐसे अवसरों पर वे अपने गीत-नृत्यों से निवासियों का
अभिवादन करने आते थे और [illegible] स्वांग भी करते
थे। इस प्रकार घर के वातावरण से भी मुझे प्राकृतिक
वातावरण के समान ही एक मनोमुग्धकर [illegible]
मिलती रही है जिसने स्वभावतः, मेरे भीतर इन [illegible]
का पोषण किया जो [illegible] परिस्थितियों के
[illegible] हुए। [illegible]

शेली की मधुर कल्पना, वर्ड्सवर्थ के प्रांजल प्रकृति-प्रेम, कॉलरिज की अपार्थिवता तथा टेनिसन के ध्वनिबोध ने मेरे कविता-सम्बन्धी रूपविधान के ज्ञान को अधिक पुष्ट, व्यापक तथा सूक्ष्म बनाया। इन कवियों की विशेषताओं को हिन्दी काव्य में उतारने के लिए मेरा कलाकार भीतर-ही-भीतर प्रयत्न करता रहा। काव्य-संगीत में व्यंजनों की योजना से शक्ति तथा चित्रात्मकता, और स्वरों की संगीतात्मकता से सूक्ष्मता तथा मार्मिकता आती है, इसका ज्ञान मुझे अंग्रेजी कवियों के रूप-शिल्प के योग से ही प्राप्त हुआ। रीतिकाव्य में अनियन्त्रित अनुप्रासों की पुनरुक्ति केवल एक शाब्दिक चमत्कार बनकर रह जाती है। अनुप्रासों के विशिष्ट संयमित प्रयोग से किस प्रकार भावनाओं की व्यंजना अधिक प्रभावशील बन जाती है यह मैंने अंग्रेजी काव्य के अध्ययन से ही सीखा। 'पल्लव' की भूमिका में मैंने स्वर-संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि काव्य के रूपविधान-सम्बन्धी उपकरणों का विस्तृत विवेचन किया है। मेरी सन् '२६ तक की रचनाओं में—जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'अनंग', 'मौन निमन्त्रण', 'वीचि-विलास' तथा 'परिवर्तन' आदि मुख्य हैं—उपर्युक्त कवियों का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है।

छायावाद नाम हमारी पीढ़ी की कविता पर बहुत पीछे आरोपित किया गया। जिन दिनों की मैं बातें कर रहा हूँ मैं इस शब्द से परिचित नहीं था। 'पल्लव' की भूमिका में भी जो सन् '२६ के प्रारम्भ में लिखी गई थी छायावाद शब्द नहीं आता है। 'गुंजन' की भूमिका में सन् १९३२ में इस शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है। इस युग की कविता के लिए [illegible] [illegible]

अलमोडा, रानीखेत, नैनीताल आदि शहरो से घर मे अतिथि-अभ्यागतो का बराबर आना-जाना लगा रहता था और घर के वातावरण मे एक चहल-पहल रहती थी।

चौथी कक्षा तक मेरी शिक्षा कौसानी के वर्नाकुलर स्कूल मे हुई। मेरे फुफेरे भाई वहाँ अध्यापक थे और मुझे गोद मे लाते ले जाते थे। मुझे सबसे पहले कापी मे सन् १६०७ लिखने की याद है, और याद है स्कूल मे अपने मधुर छदपाठ की, जिसके लिए मुझे स्कूलो के इन्स्पेक्टर ने एक पुस्तक पुरस्कार-स्वरूप दी थी। मुझे यह भी स्मरण आता है कि काली तख्ती पर बारीक मिट्टी बिछाकर म उसमे एक नवीन लिपि का आविष्कार करने की कोशिश करता था, जिससे मुझे पुस्तको के ऊपर माथापच्ची न करनी पडे और म अपनी ही भाषा मे समस्त ज्ञान दे सकूँ।

मेरी माँ की मृत्यु मेरे जन्म के छ-सात घण्टे के भीतर ही हो गई थी, पर कौसानी की गोद मुझे माँ की गोद से भी अधिक प्यारी रही है। 'आत्मिका' मे मने लिखा है

> प्रकृति क्रोड में छिप, क्रीडाप्रिय, तृण तरु की बातें सुनता मन,
> विहगो के पखो पर करता पार नीलिमा के छाया वन।
> रगो के छीटो के नव दल गिरि क्षितिजो को रखते चित्रित,
> नव मधु की फूलो की देही मुझे गोद भरती सुख विस्मृत!
> कोयल आ, गाती, मेरा मन जाने कब उड जाता वन मे,
> षड् ऋतुओ की सुषमा अपलक तिरती रहती उर दर्पण मे
> ऋषियो की एकाग्र भूमि में मैं किशोर रह सका न चचल,
> उच्च प्रेरणाओं से अविरत आदोलित रहता अन्तस्तल!

प्राय दस या ग्यारह साल की उम्र मे मुझे जब गवर्नमेण्ट हाईस्कूल मे शिक्षा प्राप्त करने अल्मोडा भेजा गया तो एक वर्ष तक म बडा उदास तथा अस्वस्थ रहा जैसे किसी ने वन के पछी को पिंजडे मे बन्द कर दिया हो। जाडो की लम्बी छुट्टियो मे जब म फिर पिताजी के पास कौसानी

चेतना के उन मूल स्रोतों तक नहीं पहुँची थी जिनका सान्निध्य पाने के लिए मेरे हृदय में गोपन द्वन्द्व चला करता था। काव्य के बाह्य मूल्यों का यत्किंचित् ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी मेरा कवि तब स्वतन्त्रचेता नहीं बन सका था, जिसके लिए मुझे आने वाले वर्षों में अविरत संघर्ष करना पड़ा। काव्य-चेतना के संस्कार के साथ ही मेरे भीतर आत्म-परिष्कार तथा सामाजिक अभ्युदय की प्रवृत्तियाँ अल्मोड़े में किशोरावस्था से ही जाग्रत हो चुकी थीं। काव्य-सृजन के साथ आत्मोन्नयन तथा सामाजिक उत्थान की समस्याओं पर मेरा मन समानान्तर रूप से अपने मानसिक बौद्धिक विकास के अनुरूप बराबर सोच-विचार करता रहा है। जब मैं 'पल्लव' की रचनाएँ लिखकर शब्द-बोध तथा कला-शिल्प में परिपक्वता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था, उन्हीं दिनों गांधीजी के नेतृत्व में देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन गम्भीर तथा व्यापक रूप धारण कर हमारी पीढ़ी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। सन् १९२१ के आन्दोलन में अपने मँझले भाई के कहने पर मैंने कालेज छोड़ दिया था। वह घटना मुझे अच्छी तरह याद है। परीक्षा के दिन निकट होने के कारण मैं अपने कक्ष में बैठा वर्ड्सवर्थ की पंक्ति 'चाइल्ड इज द फादर ऑफ मैन' को पढ़कर अपने में खोया हुआ कुछ सोच रहा था तब मँझले भाई ने, जो उसी छात्रावास में रहते थे, कमरे में प्रवेश कर कहा, 'गांधीजी का व्याख्यान सुनने नहीं चलोगे?' गांधीजी का व्याख्यान? मुझे विशेष उत्साह प्रकट करते न देखकर उन्होंने स्पष्ट होकर कहा, 'चलो, तुम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर भी क्या करोगे। चलो, जल्दी तैयार होकर मेरे साथ चलो।' मैं उन दिनों खादी पहनता था, उन्हीं में कुरता पायजामा

प्रभाव और वाह्य संघर्ष

सन् १९३१ से १९४४ तक

इन संक्षिप्त लेखों में, मुझे भय है, मैं अपने गत जीवन की अर्धशती का केवल अस्थिपंजर-मात्र उपस्थित कर सकूँगा। यदि भविष्य में कभी मुझे इसका औचित्य या आवश्यकता प्रतीत हुई तो मैं अपने सम्बन्ध में अधिक विस्तारपूर्वक कह सकूँगा। कालेज छोड़ने के बाद मुझे अपने साथ रहने अथवा अपने भीतर डूबने का अधिक सुयोग मिल सका। 'पल्लव' के प्रकाशन के बाद मेरे मन के पृष्ठ-पर-पृष्ठ लोगों के सामने खुलने लगे और मुझे चैतन्य के भीतरी स्तरों का थोड़ा-बहुत आभास मिलने लगा। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि मैं [illegible] जल्दी पारस-बिन्दुओं को छूता था और यदि [illegible] [illegible] उन्हें पोंछना पड़ता था। पहले मैं [illegible]

मेरी कुछ ऐसी धारणा थी कि वह बडे ही सुन्दर और सुकुमार थे, उनका लालन-पालन बडे प्यार से हुआ था। सबसे विचित्र बात यह थी कि तब मेरे मन मे न जाने कैसे यह बात जम गई थी कि 'मे सुकुमार नाथ वन योगू' लक्ष्मणजी ने कहा है। 'स्वर्ण-धूलि' मे 'लक्ष्मण के प्रति' शीर्षक एक कविता है, उसमे भी मैने उन्हे 'मेरे मन के मानव लक्ष्मण' कहा है। अपने व्यक्तित्व का छुटपन मे मैने उनके साथ तादात्म्य कर लिया था। यह भी, मेरी समझ मे, मेरा अपने लिए सुमित्रानदन नाम चुनने का कारण रहा है। पीछे जब मै कभी स्कूल के लडको से डरता था तो मुझे विश्वास रहता था कि मेरा कोई कुछ नही कर सकता, लक्ष्मणजी उन्हे अपने तीर से गिरा देगे।

अलमोडे मे दूसरा ध्यान मेरा अपनी वेश-भूषा की ओर गया। मेरा सुन्दर वस्त्र पहनने का शौक बढता गया। हाई-स्कूल तक और पीछे भी, मैने इतने सुन्दर और अपने मन के इतने नमूनो के कपडे पहने है कि अपने को किसी प्रकार भी असुन्दर देखने की कल्पना तब मेरा मन नही सहन कर सकता था। छठी कक्षा मे मैने अपने भाई की लाइ-ब्रेरी मे, जिसका नाम पीछे मैने 'नन्दन पुस्तकालय' रख दिया था, नपोलियन का युवावस्था का सुन्दर चित्र देखकर स्वय भी लम्बे घुँघराले बाल रख लिए। कवि-कर्म को अपनाने का निर्णय सम्भवत मैने सातवी-आठवी कक्षा मे लिया और कवि के साथ केशो का सम्बन्ध मै पीछे टैगोर के चित्र को देखकर जोड सका।

किन्तु शहर मे रहने से जो मुख्य बात मेरे मन मे पैदा हुई वह थी व्यक्तित्व के विकास तथा प्रतिष्ठा की महत्ता। नगर का तडक-भडक का जीवन देखकर सीधे-सादे ढग से रहने या अपनी ही भावनाओ के माधुर्य मे डूबे रहने से

भावात्मक दर्शन (फिलॉसफी ऑफ पॉज़िटिविज्म) को जन्म दिया उन सबकी सम्मिलित प्रतिक्रियास्वरूप विश्व-जीवन तथा मानव-जीवन के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गई। अपने उस युग के विचार एवं भावना-जगत् को मैंने, अपने बदलते हुए दृष्टिकोण के अनुरूप, नव 'युगान्त' नामक अपने काव्य-संग्रह तथा पाँच कहानियों में प्रारम्भिक अभिव्यक्ति दी। अपने भीतर सन्तुलन प्राप्त करने का मेरा एकान्त आग्रह नवीन सामाजिक व्यवस्था की धारणा से व्यापक तथा परिपुष्ट हो सका और व्यक्ति को अपने भीतर एक नये मानव के रूप में बदलने के साथ ही बाहर से भी एक नवीन सामाजिक प्राणी के रूप में बदलना है, मेरी यह धारणा सत्यतर तथा समृद्ध होती गई।

'द्रुत झरो जगत के जीर्णपत्र, हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण' या
'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली' या
'गा, कोकिल, नव गान कर सृजन, रच मानव के हित नूतन मन,

'करे मनुज नव जीवन यापन'—आदि 'युगान्त' में व्यक्त भावनाएँ मेरे मानसिक जीवन के एक मौलिक परिवर्तन तथा गम्भीर विश्वासों के उदय की सूचना देती हैं। मानव-जीवन सम्बन्धी सम्भावनाओं एवं आस्थाओं के नवीन स्पर्श से मेरा कला-शिल्प-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी बदलने लगा। गृह-जीवन के मोह, पारिवारिक जीवन के बन्धन तथा स्नेह-संपोषण से मुक्त, मैं उन दिनों कालाकांकर के एकान्त में अधिक निश्चिन्त, विचारों और भावनाओं में डूबा-सा के रूप में जीवित रहने लगा। मेरा नव युग-चिन्तन की गतिविधि तथा मानव-जीवन एवं रूपों के प्रति मन में निरन्तर बढ़ता गया, उसके प्रमाण 'पल्लविनी' के बाद की मेरी रचनाओं में पग-पग पर मिलते हैं। 'सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम'—आदि मेरी



बाल पन (१९१०)

सन् '३४ में, जेल से छूटने के बाद गांधीजी से मिलने दिल्ली गये और मुझे भी अपने साथ ले गए। उन्हें वहाँ अपनी शल्य-क्रिया के लिए भी जाना था। सविनय-सत्याग्रह का आन्दोलन प्रायः समाप्त हो चुका था। गांधीजी ने उन दिनों सत्याग्रह आन्दोलन को अधिक व्यापक तथा सम्पन्न बनाने के लिए ग्राम-संगठन का कार्य आरम्भ कर दिया था। वह तब हरिजन कालोनी में ठहरे हुए थे। हम लोग जब उनसे मिले तब वह भोजन कर रहे थे। कुछ अन्य लोग भी उनके पास उपस्थित थे। उस भेंट में कुछ ही क्षणों में मुझे गांधीजी के महान् व्यक्तित्व का स्पर्श मिल गया। तब मुझे ज्ञात हुआ कि गांधीजी कितने हृदयवान महापुरुष हैं। अपने इस आन्तरिक अनुभव की बात को मैंने [illegible] में इस प्रकार कहा है :

प्रथम भेंट में मिला हृदय को सूक्ष्म स्पर्श, दृग विस्मय प्रेरित,
स्फुरित इन्द्रधनु सचि विनिर्मित हुआ मनोरथ पथ उद्भासित,
विश्व चेतना में जब नव युग होता उद्भव हेतु प्रवर्तित
लोक अस्मिता से संघर्षण करना पड़ता उसे अनवरत। इत्यादि।

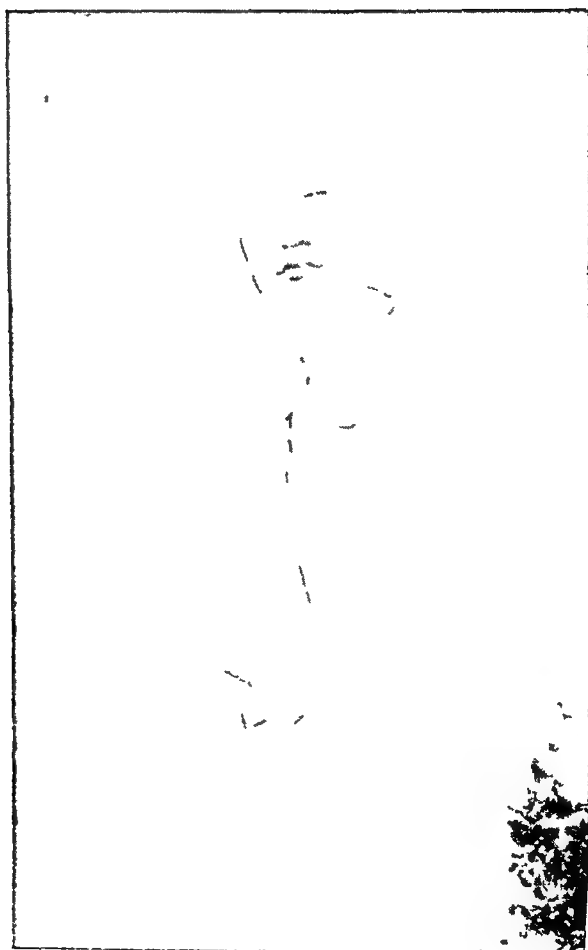
मैंने 'बापू के प्रति' शीर्षक अपनी पहली रचना गांधीजी पर सन् '३६ के आरम्भ में इस भेंट के बाद ही लिखी :

तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त अस्थि, निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
तुम धन्य, तुम्हारा निःस्व त्याग ही विश्वभोग का वर साधन।

इत्यादि।

तब से जब भी मेरा मन युग-समस्याओं से आंदोलित हुआ मैंने गांधीजी का स्मरण किया है और जिस रूप में भी मैं ग्रहण कर सका, मैंने उन्हें श्रद्धांजलि भी अर्पित की है और मेरे मन में सब से गांधीजी का एक अमर संदेश विद्यमान रहा है। गांधीजी के [illegible] व्यक्तित्व के लिए [illegible] [illegible] हुआ था उसे युग की [illegible] [illegible]

युवा पन्त (१९२६)



नहीं।

'पल्लव-गुंजन' के सौन्दर्य-कल्पना-लोक से बाहर निकलकर मेरा युग-जीवन की वास्तविकता का स्वागत करना रीतिकाव्य के संस्कारों में पली रुचि को किसी प्रकार भी कवि-कर्म नहीं प्रतीत हुआ। पर मेरे मनोविकास के लिए युग की वास्तविकता को आत्मसात् करना एक अनिवार्य आवश्यकता बन गई थी। 'युगवाणी'-'ग्राम्या' में मैंने गांधीवाद-मार्क्सवाद का समन्वय करने की चेष्टा तो नहीं की है, पर हाँ, गांधीवाद के शुद्ध साधन—जिसका अर्थ मैं मानवीय साधन लेता हूँ—के सिद्धान्त तथा उसके सांस्कृतिक पक्ष को मेरा मन महत्त्व देता रहा है और मार्क्सवाद की जनतंत्र की धारणा मुझे सदैव अधिक वास्तविक तथा वैज्ञानिक लगती रही है। दोनों के जीवन-दर्शनों में मेरे मन को जो रुचिकर तथा ग्रहणीय प्रतीत हुआ है, उसे मेरे उस युग की रचनाओं में स्वतः ही वाणी मिल गई है। 'समाजवाद और गांधीवाद' शीर्षक रचना में मैंने 'युगवाणी' में कहा है :

> मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
> सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

अपनी उस काल की रचनाओं के सम्बन्ध में मैं अपनी भूमिकाओं में पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ।

कालाकांकर में भी स्वतन्त्रता-संग्राम की हलचल होती रहती थी। राजा साहब स्वयं कांग्रेसी थे। उनके सौजन्य से मुझे दो-एक बार उनके साथ गांधी के [illegible] दर्शनों में भाग लेने का अवसर मिला है। गांधीजी के उपवासों तथा आन्दोलनों से मन उद्वेलित होता रहता था और लोक-सेवकों के त्याग तथा उनके सदाचार [illegible] से मैं प्रभावित रहता था। हमारी पीढ़ी की आस्था [illegible]

शान्ति-निकेतन मुझे उन्नीसवीं शती की शान्त, सौन्दर्य-उर्वर, कला-प्राण संस्था प्रतीत हुई। उसमें देश के स्वतन्त्रता-युद्ध की अनुगूँज सुनने को नहीं मिली, न वहाँ के वातावरण में बीसवीं शती की महत्तम जीवन-प्रसार की संवेदना तथा प्रसव-वेदना से गुंजरित अन्धकार-प्रकाश के संघर्ष की प्रेरणाप्रद सक्रिय चापों की ही प्रतिध्वनि सुनाई दी। आज के सृजन संस्थान में भूजीवन तथा मानवता को नये रूप में ढालने तथा नयी दिशा की ओर ले जाने की जिस अन्त-क्षमता की आशा की जाती है उसका स्पर्श प्राणों को नहीं मिल सका।

सन् '३८ में मैंने 'रूपाभ' नामक पत्र का सम्पादन किया जिसमें श्री नरेन्द्र शर्मा का अभिन्न सहयोग रहा। रूपाभ का प्रकाशन प्रयाग से होता था। उसका उद्देश्य सामाजिक सांस्कृतिक चेतना को जन-जागरण का अंग बनाना था। सौभाग्यवश, साहित्य-प्रेमियों ने उसका अच्छा स्वागत किया था और उसने उस युग की कलात्मकता को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया था। [illegible] कुँवरसिंह द्वारा सम्पादित किशोरों के लिए उपयोगी 'कुमार' नामक सुरुचि-सम्पन्न साहित्यिक पत्र भी उन दिनों ग्वालियर से प्रकाशित होता रहा है जिसमें मुझे काफी रुचि रही है। दोनों पत्रों के सात्विक पक्ष का [illegible] रखते थे।

सन् '४० के प्रारम्भ में 'रूपाभ' की समस्याओं के समाप्त हो जाने पर मैंने मन में सोचा कि अब साहित्य — में मेरा कार्य समाप्त हो गया है। तब मैंने कालाकांकर में रहने का विचार किया था तब भी मैंने मन में कहा था कि वहाँ कुछ भी क्यों — रहना संभव हो सकता है।

ससाबन

सन् '४० के बाद मैं कालाकांकर से बाहर ही रहा।

के कारण वाणी का मौन कक्ष मेरा निवास तथा साहित्य मेरे जीवन-मन का अवलम्ब ही हो गया। छठी कक्षा मे मैने जाडे की दो-ढाई महीने की छुट्टियो मे 'हार' नामक एक खिलौना-उपन्यास लिख डाला, जिसमे उस समय के मेरे साहित्यिक अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। कविता का प्रयोग सर्वप्रथम मैने पत्र लिखने के रूप मे किया था। अपनी बहन से अपने छन्दबद्ध पत्रो की प्रशसा सुनकर मै बडा प्रोत्साहित होता था। कौसानी मे मैने अपने भाई के अनुकरण मे कुछ ढीले-ढाले रेखता छन्द भी लिखे थे। एक का विषय बागेश्वर का मेला था, जहाँ मैं अपनी दादी के साथ गया था, दूसरी कविता वकीलो के धन-लोभी स्वभाव पर थी। उन दिनो बडे भाई के एक वकील मित्र कुछ समय के लिए कौसानी शिकार खेलने आए थे।

साधु-सन्तो तथा योगियो का प्रभाव अल्मोडा मे भी मेरे ऊपर ज्यो-का-त्यो बना रहा। एक बार मै एक लम्बे गोरे घुंघराले केशो वाले साधू के सुन्दर रूप, मधुर स्वभाव तथा विद्वत्तापूर्ण भाषणो से आकर्षित होकर, स्कूल की पढाई छोडकर उसके साथ जाने को तैयार हो गया था। जब भाई को यह बात मालूम हुई तो उन्होने साधूजी को न जाने क्या समझाया-बुझाया कि एक दिन वह भाई के पास मेरे लिए एक सुन्दर तार की कघी उपहार-स्वरूप छोडकर चुपचाप कही चले गए। मै उनके इस प्रकार चले जाने के कारण बहुत दिनो तक बडा दुखी रहा। अल्मोडा आने के चार वर्ष बाद, जब मै आठवी कक्षा मे था, मेरा परिचय श्री गोविन्दवल्लभ पन्त (नाटककार), उनके भतीजे श्यामाचरणदत्त पन्त, जो तब हमारे यहाँ रहने लगे थे, इलाचन्द्र जोशी तथा अन्य साहित्यिक बन्धुओ से धीरे-धीरे बढने लगा और मेरी साहित्यिक आस्था तथा अनुराग मे

दूसरा संस्कृति-केन्द्र में मैं मंच तथा अभिनय-सम्बन्धी कला सीखने तथा केन्द्र-संचालन-सम्बन्धी अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर खोजना चाहता था। उदयशंकर का मन मुख्यतः नृत्य-नाट्य था, यद्यपि नाटकों के अभिनय की भी वहाँ व्यवस्था हो सकती थी। किन्तु उदयशंकर तब अपने 'कल्पना' नामक चित्रपट की रूपरेखा बनाने में व्यस्त थे। मुझे भी उन्होंने उसी काम में लगा लिया। संस्कृति-केन्द्र में साल-भर तक भारतीय नृत्यों तथा लोक-नृत्यों के बारे में जानने तथा उन्हें देखने का अच्छा अवसर मिला। सन् १९४३ में मैंने उदयशंकर के ट्रूप के साथ दो-तीन महीने भारत-भ्रमण भी किया। यह समय अनेक दृष्टियों से मेरे लिए शिक्षाप्रद रहा। किन्तु मेरे अन्तस्तल में एक अवसाद तथा अतृप्ति मुझे कुरेदती रही है और अपने जीवन के साथ ही मानव-जीवन की सार्थकता खोजने की प्यास निरन्तर मेरे मन में सजग रही है। मन की इस अस्थिर अवसाद की स्थिति में अनेक स्थानों में लगातार भ्रमण करने से थका हारा होकर मेरे स्वास्थ्य ने कुछ समय के लिए फिर मेरा साथ छोड़ दिया। नीरोग होकर अपने घर तथा देश में घूमने के बाद सन् '४८ में मुझे 'कल्पना' फिल्म के सिलसिले में मद्रास जाना पड़ा, जहाँ भी उदयशंकर ने, स्टूडियो की सुविधा के कारण, अपने चल-चित्र का निर्माण करने का निश्चय किया था। 'कल्पना' में मैं अधिक समय तक नहीं रह सका, किन्तु मद्रास प्रवास मेरे लिए शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ, जिसकी चर्चा मैं आगे चल कर करूँगा।

तो मैंने उसे अपना घर ही बना लिया है।" बातों-ही-बातों में उनसे साहित्य तथा दर्शन-सम्बन्धी चर्चा छिड़ गई। मि० हन्टर बड़े विद्याव्यसनी व्यक्ति थे, उनके पुस्तकालय में अनेक विषयों की पुस्तकें रहती थीं। उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हारे विचार श्री अरविन्द से बहुत मिलते-जुलते हैं। मुझे स्वयं उनके दर्शन से बड़ी शान्ति तथा प्रेरणा मिली है। तुम उन्हें अवश्य पढ़ो।" यह कहकर उन्होंने अपनी अलमारी से 'लाइफ डिवाइन' का प्रथम भाग निकालकर मेरे हाथ में रख दिया।

'ग्राम्या' के प्रणयन तथा सन् '४२ के आन्दोलन के बाद मेरी विचार-धारा में फिर एक परिवर्तन आने लगा था और मेरा मन साहित्य, संस्कृति तथा दर्शन-ग्रन्थों में अधिक रमने लगा था। संस्कृति केन्द्र के कलात्मक वातावरण में मेरा सौन्दर्य-प्रिय जीवन-द्रष्टा मेरे भीतर फिर जगने लगा। मुझे प्रतीत होने लगा कि एक पूर्ण विकसित समाज में मनुष्य को अवश्य ही सौन्दर्य-प्रेमी तथा संस्कृत होना चाहिए। किन्तु सौन्दर्य और संस्कृति का आधार [illegible] क्या हो और पूर्ण विकसित समाज की स्थापना कब, कैसे, किस रूप में सम्भव हो सकेगी, जिससे सौन्दर्य आत्मोन्नयन तथा लोक-जीवन की प्रगति का साधन बन सके, यह प्रश्न मेरे भीतर निरन्तर उठता रहता था। मार्क्स के अध्ययन के बाद सम्भवतः लोक-जीवन का स्तर मेरी विचार-धारा का एक अंग बन गया था। किन्तु इस समय मेरा राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं की शुद्धि तथा भौतिक उपकरणों के विकास [illegible] पूर्ण होना [illegible] मेरा विश्वास उठने लगा था। [illegible] [illegible] तथा सम्पूर्ण रूप से [illegible] पर भी यदि मानव-जीवन भीतर से ऊपर न उठे [illegible] [illegible] [illegible]

से वाहर निकलकर कहता है—यद्यपि लोग प्यार के वहाने मुझे अपने हृदय मे वन्दी रखना चाहते है पर मै स्वतत्रता-प्रेमी होने के कारण वाहर निकलकर मुक्त आकाश मे समा जाना अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ। उन दिनो के भाषणो मे जो स्वाधीनता की भावना मिलती थी उसीकी प्रतिध्वनि उक्त रचना मे है। कागज के फूलो का एक रगीन स्तवक कोई सज्जन कभी मेले के दिनो मे मेरे भाई को भेट कर गए थे, उसे देखकर मैने कहा है—इस नकली रूप-रग से कब तक धोखा देते रहोगे? मानव-हृदय भ्रमर की भाँति ही गुण का प्रेमी होता है, तुम्हारे गध-मधुहीन जीवन का वह कैसे आदर करेगा?

हमारे घर के ऊपर गिरजाघर था, जहाँ रविवार को प्रातःकाल नित्य घण्टा वजा करता था, उसकी शात मधुर ध्वनि तब मुझे वहुत आकर्षित करती थी। 'गिरजे का घण्टा' शीर्षक रचना मे मैने लिखा था—तुम्हारे स्वर चहकते हुए पक्षियो की तरह मेरे भीतर छिपकर शाति का सदेश दे जाते है।

उसीका परिवर्तित रूप पीछे 'घण्टा' शीर्षक कविता मे मिलता है जो 'आधुनिक कवि भाग दो' मे प्रकाशित है, जिसका एक अश यहाँ उद्धृत करता हूँ

नभ की उस नीली चुप्पी पर घण्टा है एक टँगा सुन्दर
जो घडी-घडी मन के भीतर कुछ कहता रहता वज-वजकर।
भरते स्वर उर मे मधुर रोर—जागो रे जागो कामचोर,
डूबे प्रकाश मे दिशा छोर, अब हुआ भोर, अब हुआ भोर। इत्यादि।

उपर्युक्त रचना मैने अपने किशोर चापल्य के कारण नीले रग के धारीदार लेटर पेपर पर उतारकर श्री गुप्तजी के पास उनकी सम्मति के लिए भेजी थी। गुप्तजी ने अपने सहज-सौजन्यवश उसके हाशिये मे दो-चार प्रशसा के वाक्य लिखकर मुझे वह रचना लौटा दी थी, जिससे प्रोत्साहित

जिज्ञासा तथा उत्सुकता उनके योग तथा दर्शन के प्रति अधिक बढ़ने लगी।

एक वर्ष बाद जब मैं अपनी दीर्घ अस्वस्थता से मुक्ति पाने पर सन् १९४८ में मद्रास पहुँचा तो मैं यह बिलकुल ही भूल गया था कि वहाँ से थोड़ी ही दूर पर पाण्डिचेरी है, जहाँ श्री अरविन्द का साधना-केन्द्र एक आश्रम भी है। जब पाँच-छः महीने बाद उदयशंकर ट्रूप के कुछ व्यक्तियों ने पाण्डिचेरी जाने की इच्छा प्रकट की तो उनके साथ मैं भी आश्रम देखने के लिए चला गया। वहाँ के वातावरण से मुझे एक अज्ञात आकर्षण तथा वहाँ के जीवन में एक विशिष्ट सौन्दर्य-गरिमा तथा शान्ति मिली। उन दो-तीन वर्षों में, जब तक मैं दक्षिण भारत में रहा, मुझे अनेक बार पाण्डिचेरी जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आश्रम के स्वच्छ प्रभाव तथा श्री अरविन्द के उज्ज्वल सम्पर्क में आने के कारण मेरी आध्यात्मिक मान्यताओं-सम्बन्धी धारणाएँ अधिक उन्नत, विकसित तथा पुष्ट हुईं। 'ग्राम्या' के बाद मेरे मन में जो चिन्तन-धारा चल रही थी, उसका यहाँ आकर परिपाक हुआ। मेरे 'स्वर्ण-किरण' तथा 'स्वर्ण-धूलि' नामक काव्य-संग्रहों की रचनाएँ मद्रास तथा बम्बई में लिखी गईं। मेरी दृष्टि से उनमें 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'ग्राम्या' के चिन्तन तथा मूल्यों की स्वाभाविक परिणति तथा विकास हुआ है। मेरे इस युग की रचनाओं में, जिसे मैं चेतनावादी युग कहता हूँ, मेरे चिन्तन तथा भावनाओं में अधिक व्यापकता, शैली में प्रौढ़ता, प्राञ्जलता तथा सौन्दर्य, आध्यात्मिक मूल्यों-सम्बन्धी दृष्टिकोण में सन्तुलन [illegible] तथा सामञ्जस्य मिलता है। इस नवीन [illegible] में मैं भी अरविन्द-दर्शन को कहीं पर आत्मसात् कर सका हूँ

विभीषिका से भी अधिक, भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में जो औदास्य तथा नैराश्य सरकारी दमन तथा गांधीजी आदि नेताओं के कारागृह में बन्दी रहने के कारण सर्वत्र छाया हुआ था वह रह-रहकर चित्त को चित्रित करता रहा है। तटस्थ दर्शक होते हुए भी मुझे बाह्य आन्दोलनों की प्रगति से भीतर सदैव आशा तथा प्रेरणा का प्रकाश मिलता रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम तथा गांधीजी का व्यक्तित्व मेरी भावना-धारा के अविच्छिन्न अंग रहे हैं। दिल्ली के अतिरिक्त मुझे महात्माजी से मिलने का संयोग प्रयाग, बम्बई, मद्रास आदि स्थानों में अनेक बार प्राप्त हो सका है। गांधीजी के संसर्ग से मुझे सदैव आत्म-बल तथा आत्म-विश्वास मिला है और श्री अरविन्द के सम्पर्क से मेरा मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका, ऐसा मेरा अनुभव है।

सन् १९४६ में प्रयाग की ममता ने मुझे फिर उत्तर-भारत बुला लिया, और दक्षिण-भारत से बम्बई होता हुआ मैं जुलाई में प्रयाग लौट आया। चाहे मैं उत्तर में रहूँ या दक्षिण में, चाहे गांवों में रहूँ या नगरों में, मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसा मैं अपने ही भीतर हूँ। बाहर की परिस्थितियों से, जिनमें लोग भी हैं, मैं इतना निःसंग एवं असम्पृक्त रहता हूँ कि जब तक परिस्थितियाँ ही मुझे बाध्य नहीं करतीं, मैं अपनी इच्छा से कहीं आना-जाना नहीं। कालाकांकर का भी मेरा ऐसा ही अनुभव है। कालाकांकर में मेरे रहने का स्थान इतना एकान्त है, लोगों ने कह रखा था कि मेरे मित्र जो ही दिन में वहाँ के एकान्त से ऊबकर मुझसे प्रायः पूछा करते थे कि मैं जंगल के भीतर ऐसी निर्जन सुनसान जगह में अकेला कैसे रह लेता है। तब मैं परिहास में उनसे कहता था कि मैं कुछ

विश्वास, अदम्य आशा तथा महत् उत्साह भर दिया था जो आगे चलकर भी मेरे जीवन का सबल रहा। मेरे भीतर तब एक अज्ञात मानसिक आनन्द की लहर तथा अनिर्वच-नीय पवित्रता के अभिजात सस्कार मुझे अकेले एकान्त मे रहने को बाध्य करते थे। सबसे मिलना तब सम्भव न था, मै अपने साथियो तथा सहयोगियो से बहुत कम मिलता-जुलना या बोलता था और उनके साथ हँसी-खेल मे भी नही के बराबर भाग लेता था। इसी कारण मेरे समवयस्क मुझे आत्माभिमानी समझकर, मुझसे असतुष्ट रहते थे। बहुत पीछे भी अनेक लोग मुझसे इसी कारण अप्रसन्न हो गए थे। स्कूल मे भी मेरी मित्रता अपने ही मे थी। म अपने सुन्दर वस्त्रो तथा अगो को प्यार करता था। कोई उन्हे न छुए, इसका मुझे ध्यान रहता था। मेरे सहपाठी मेरे पीछे कानाफूसी करते थे, पर उन्हे मेरे विनम्र सुकु-मार मोन को छेडने का साहस नही होता था। हमारे हिन्दी पडितजी कुछ प्रसन्न कुछ खीझे-से रहते थे। वह मुझे 'मशीनरी आफ वर्ड्स' कहा करते थे। उक्त पडितजी हमारे घर के पास ही रहते थे। म उन्ही के साथ स्कूल आता-जाता था। उन दिनो मुहल्ले और बाजार के लडको मे आपस मे कुछ तनातनी रहती थी। इसलिए मुझ-जैसे सरल प्राण किशोर का रास्तो मे या मेले-ठेलो मे अकेला आना-जाना अच्छा नही समझा जाता था। मेरे स्वभाव के विनम्र हँसमुख मोन से मन-ही-मन कुढकर लडको ने मेरा नाम 'शुगरकेन' रख दिया था। म तब दुबला-पतला होने के कारण लम्बा लगता था और अपनी पीढी के किशोरो मे सुन्दर गिना जाता था। राह मे जहाँ-तहाँ सफेद खडिया से 'शुगरकेन' लिखा रहता था जिससे मुझे अकेले जाने मे बडी झिझक मालूम देती थी। पर लडको के मन के विद्रोह ने

पाण्डुलिपि कई सालों तक खोई रही, जिसका उद्धार मेरे बन्धु श्री रामचन्द्रजी टंडन की सहायता से हुआ। शब्द-योजना तथा भाव-व्यंजना की दृष्टि से मेरा अनुवाद हिन्दी में सम्भवतः सर्वाधिक मधुर है। मैंने उसमें यथाशक्ति तथा यथासम्भव उमर के ही विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। मुझे उमर में प्रायः विचारों की प्रधानता तथा कविता का अभाव मिला। उसे मुझे यत्र-तत्र अपनी कल्पना से मण्डित कर प्रस्तुत करना पड़ा। उमर की मौलिक रचनाओं से परिचित होने के कारण मैं यह कहता हूँ कि फ़िट्ज़जेरल्ड ने भी अपने अंग्रेज़ी अनुवाद को अपनी ही कवित्व-शक्ति से सफल बनाया है।

स्वराज्य मिलने के बाद सन् '४८ में मैंने अपनी लोकायतन की योजना को, जिसकी पहली रूपरेखा सन् '४२ में बनी थी, फिर से मूर्त रूप देने का एक बार प्रयत्न किया, पर अनेक कारणों से वह आगे नहीं बढ़ सकी। उपयुक्त आर्थिक सहायता के अभाव के साथ ही उसे साहित्यिक दलबंदी तथा प्रतिस्पर्धा के कारण गण्यमान्य साहित्यिकों का आशीर्वाद तथा नवीन साहित्यिकों का सहयोग नहीं मिल सका। बहुत सम्भव है लोकायतन के अपने स्वप्न को मैं भविष्य में साकार कर सकूँ। दक्षिण भारत में साल-पाँच मास के बाद लौटने पर मुझे प्रयाग का साहित्यिक वातावरण कुछ नया बदला हुआ मिला। नव साहित्यिक मण्डलियाँ जन्म लेने लगी थीं। विभिन्न विचारों एवं मतों के साहित्यिकों के [illegible] में सहयोग तथा सद्भावना का अभाव था। धीरे-धीरे भारत के [illegible] तथा [illegible] साहित्य ने विरोध का रूप धारण कर प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के विविध रूपों में साहित्यिक अन्तर्विरोध का [illegible] रूप लिया था और विभिन्न वादों के [illegible] पर [illegible]

युगीन आध्यात्मिक निष्क्रियता का भी निरूपण किया है। '[illegible]' की भूमिका में मैंने अपने काव्य-रूपकों के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से विचार किया है। 'अतिमा' में मेरी सन् '५४ की कविताएँ संगृहीत हैं जिनमें 'जन्मदिवस', 'शान्ति और क्रान्ति', 'यह धरती कितना देती है', 'मौन' तथा 'कूर्मांचल' शीर्षक मेरी लम्बी प्रकृति-चित्रण-प्रधान रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

सन् '५४ के बाद भाई की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण मेरा मन प्रायः एक वर्ष तक बुझा बुझा रहा। पारिवारिक दायित्व बढ़ जाने के अतिरिक्त भाई के इस प्रकार के अप्रत्याशित बिछोह से मेरा मन अशान्त तथा दुःखी रहा। अब केवल मेरे वयोवृद्ध बड़े भाई हैं जो प्रायः [illegible] रहते हैं। यद्यपि मैं स्वेच्छा से परिवार के लोगों से पृथक् ही रहा हूँ, पर पारिवारिकता के सूत्र मेरे भीतर विद्यमान हैं और मैंने कठोर आघात सहने पर भी उन्हें सजीव रहने दिया है। सन् '५८ के अन्त में 'वाणी' शीर्षक मेरी नवीन रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है जिसमें 'आत्मिका' शीर्षक एक लम्बी रचना में मैंने अपने जीवन तथा युग की प्रमुख घटनाओं के सम्बन्ध में विचार किये हैं। इसमें मैंने अपनी वर्तमान मनःस्थिति के बारे में इस प्रकार कहा है:

[illegible]
[illegible] !
[illegible],
[illegible]। (वाणी)

'वाणी' में आत्मिका के अतिरिक्त मेरी '[illegible]', '[illegible]', '[illegible]', '[illegible]', '[illegible]' आदि अनेक प्रमुख रचनाएँ हैं जिनमें मैंने अपने युग के विचारों तथा भावनाओं को वाणी दी है।

इलाहाबाद

विकास-सूत्र और अंतःसंघर्ष

सन् १६१६ से १६३० तक

बनारस का नौ-दस महीनों का प्रवास मेरे लिए आशातीत रूप से लाभदायक सिद्ध हुआ। समतल भूमि में पहुँच जाने पर मकानों की चहारदीवारी से घिरा हुआ बाहर का क्षितिज तो सीमित हो गया, सिर पर धुंधले-नीले आकाश का धब्बा-भर रह गया, और पहाड़ों की चोटियों पर से दीखने वाला सुदूर तक फैला गहरा हरा प्रसार दृष्टि से ओझल होगया, किन्तु बड़े नगर के जीवन तथा जन-समागम की गरिमा के कारण मेरा मन क्षितिज प्रबुद्ध तथा विकसित हो सका। मेरे बहनोई, श्री शुकदेवजी पांडे, जिनके साथ भेलूपुरा में हम दोनों भाइयों के रहने की व्यवस्था हुई थी, सौम्य, अध्ययनशील प्रकृति के सहृदय व्यक्ति थे, और हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का कार्य करते थे। घर का वातावरण शान्त, सुन्दर तथा पठन-पाठन के अनुकूल

मे अनेक प्रकार की स्वस्थ-अस्वस्थ प्रवृत्तियों का उदय हुआ है। यह हमारे आत्म-निरीक्षण-परीक्षण का पहला ही चरण है। अभी हमारी सृजन-चेतना अपने दीर्घ-कालीन आत्म-दमन की कुण्ठाओं, पीड़ाओं तथा ग्रन्थियों से मुक्त नहीं हुई है, वह उन्हीं को वाणी देकर मुक्ति का अनुभव कर रही है। आज हमारी नयी पीढ़ी परस्पर की स्पर्धाओं से पीड़ित हो दूसरों पर अवांछित प्रकार तथा अनर्गल आक्षेप करने की स्वच्छन्दता प्राप्त कर अपने में साहस तथा बल का अनुभव कर रही है। जीवन की परिस्थितियों के सन्तुलित तथा मानसिक वातावरण के स्वच्छ, स्निग्ध तथा शान्त होने पर हम एक-दूसरे की कृतियों का मूल्यांकन अधिक निष्पक्षता के साथ, पूर्वग्रह तथा दलबन्दियों से मुक्त होकर कर सकेंगे और आने वाले युग की सृजन-प्रेरणा अधिक उपयोगी तथा स्थायी कृतित्व की जन्मदात्री बन सकेगी. इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ इन संस्मरणों को समाप्त करना है।



था। मुझे दुमंजिले में एक छोटा-सा एकान्त कमरा—छोटा
कमरा मुझे बहुत प्रिय था—और अलग से एक छोटी-सी
छत मिल गई थी। एक ओर ऊपर की छत को जाने की
सीढ़ी थी, जिस पर चढ़कर मुझे जहाँ तक दृष्टि जाती,
चारों ओर मकान की छतें-ही-छतें नजर आती थीं। कमरे
की खिड़की से भी केवल आसपास के घर और नगरी



गलियाँ ही दिखाई पडती थी—बनारस की गलियाँ, जिनका परिचय मुझे पीछे मिला। कभी-कभी दूर से आती हुई पपीहे की प्यासी पुकार अवश्य ध्यान आकर्षित करती थी। इस प्रकार बाहरी दृश्यो की रमणीयता के अभाव मे मन को प्राय अध्ययन ही मे अधिक सुख मिलता था। मेरे बहनोई मेरी साहित्यिक रुचि से परिचित थे। वह विश्वविद्यालय के पुस्तकालय अथवा अपने प्राध्यापक-मित्रो और विशेषकर प्रो० शेषाद्रि की लाइब्रेरी से मेरे पढने के लिए श्रीमती नायडू तथा रवीन्द्रनाथ आदि की पुस्तके ले आते थे। मिसेज नायडू का शब्द-सगीत मुझे तब बहुत अच्छा लगता था। मै 'गेली ओ गेली वी ग्लाइड ऐज वी सिग, वी बियर हर एलॉग लाइक ए पर्ल ऑन ए स्ट्रिग' आदि, 'पैलेक्विन बेयरर्स' नामक उनकी रचना की पक्तियाँ प्राय गुनगुनाया करता था। उनकी अनेक प्रकृति-सौन्दर्य तथा प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ तब मुझे कठाग्र थी। रवीद्रनाथ की गीताजलि, गार्डनर, किग आफ डार्क चेबर, पोस्ट आफिस, सैक्रिफाइस एण्ड अदर प्लेज आदि अनेक ग्रन्थ तब मैने अग्रेजी मे अनूदित पढे थे। उनकी कहानियो तथा उपन्यासो के हिन्दी अनुवाद मै अल्मोडे ही मे पढ चुका था। हिन्दी कवियो मे मुझे बनारस मे मुख्यत रीतिकालीन कवियो को पढने का अच्छा अवसर मिला। देव, केशव, मतिराम, पद्माकर, सेनापति, बिहारी आदि की पद-रचनाओ को मैने अत्यन्त तल्लीन होकर पढा है। अल्मोडे मे मेरा अध्ययन विशेषकर द्विवेदीकालीन कवियो तक ही सीमित था, जिनकी तुलना मे रीतिकाव्य के लघु-पद-रचना-माधुर्य ने मेरी काव्यभाषा-सम्बन्धी धारणा को अत्यन्त प्रभावित किया। रीतिकाल की कविता के सम्बन्ध मे मैने अपने मन की प्रतिक्रिया 'पल्लव' की भूमिका मे

रहा। तब मेरा बंगला का ज्ञान नहीं के बराबर था। मि० मुखर्जी कवि ठाकुर की रचनाओं का लययुक्त पाठ-भर सुनाते थे और कभी अनुरोध करने पर किसी पद का अंग्रेजी मे अनुवाद कर देते थे। उन्हीसे मै कवीन्द्र की पद-योजना तथा भाव-गरिमा को हृदयगम करने का प्रयत्न करता था। मुझे उनसे उर्वशी, कच औ' देवयानी, पुरातन भृत्य, हृदय यमुना आदि रचनाओ को सुनने की स्पष्ट याद है। तब मुझे विद्यापति और चडीदास के बगला पदो का भी एक सग्रह मिल गया था, जिसका मे रस लेने का प्रयास करता था। 'वीणा' की कुछ रचनाओ मे सभवत रवीद्र के भावलोक की अस्पष्ट छाया हो। एक-आध रचना, जसे 'मम जीवन की प्रमुदित प्रात सुन्दरि नव आलोकित कर' मे रवीद्रनाथ के 'अतर मम विकसित कर अतरतर हे' की छाप मिलती है। 'ग्रथि' की शैली मे सभवत हिन्दी रीति-काव्य तथा सस्कृत कवियो की शब्द-योजना का आभास हो। सस्कृत का थोडा-बहुत ज्ञान मुझे पहले से ही था। बनारस मे मुझे कालिदास, भवभूति आदि के प्रेमी अनेक युवक छात्रो के साथ सस्कृत-कवियो की वाणी का रसास्वादन करने का सयोग प्रचुर मात्रा मे मिला। 'ऋतुसहार' तथा 'मेघदूत' मुझे प्राय कठस्थ थे। कालिदास का 'शृङ्गारतिलक' तथा 'सुभाषित रत्न भाडागार' के भी कतिपय पद मुझे प्रिय थे। पर अत मे निष्पक्ष दृष्टि से कह सकता हू कि मेरे उपर्युक्त अध्ययन के प्रभाव के अतिरिक्त भी वीणा, ग्रथि आदि रचनाओ मे और भी बहुत-कुछ मिलता है, और पर्याप्त मात्रा मे मिलता है, जो केवल मेरा अपना है। जिसे देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि काव्य-सृजन के लिए सभवत मुझमे नैसर्गिक सस्कार रहे है।

बनारस में, संयोगवश, मुझे थियॉसॉफिकल सोसाइटी में रवीन्द्रनाथ के दुर्लभ दर्शनों का भी सयोग प्राप्त हुआ था और कवि के मधुर कंठ से छात्रों की सभा में 'शारदोत्सव' नामक नाटक भी सुनने को मिला था। रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व का प्रभाव तो मन में पड़ा ही, काले चोगे में उनकी लम्बी गौरवर्ण आकृति, बड़ी-बड़ी आँखें, सुनहली कमानी का चश्मा, सुन्दर लम्बी दाढ़ी, सिर पर ऊँची मखमली टोपी, सब-कुछ बड़े आकर्षक तथा अद्भुत प्रतीत हुए। पर उससे भी अधिक प्रभाव मेरे मन में उन भाषणों का पड़ा, जो उस अवसर पर उनकी प्रतिभा, प्रसिद्धि तथा विद्वत्ता के बारे में इधर-उधर सुनने को मिले थे। कवि इतना महान् व्यक्ति हो सकता है और उसे विश्व में इतना बड़ा सम्मान मिल सकता है, इन बातों से कवि-कर्म के प्रति मन में अधिक महत् धारणा एवं गंभीर आस्था पैदा हुई। उनकी पुस्तकों से भी अधिक तब उनकी कीर्ति तथा व्यक्तित्व की गरिमा ने मेरे भीतर कविता के प्रति अनुराग के मूलों को सींचकर दृढ़ बनाया।

यह विचित्र बात है कि अपने बनारस के प्रवास-काल में मैंने प्रसादजी की चर्चा नहीं सुनी, सम्भवत तब वह प्रसिद्ध नहीं हुए थे। उन दिनों '[illegible] कुसुम' के नाम से श्री गोविन्दवल्लभ पंत और उनके किसी मित्र की रचनाओं का सम्मिलित संग्रह प्रकाशित हुआ था। श्री पंत तब हिन्दू कालिज में पढ़ते थे। मैं उनके छात्रावास में दो-एक बार उनसे मिलने गया था। हिन्दू विश्वविद्यालय में महामना मालवीयजी की ओर से एक बार काव्य प्रतियोगिता भी हुई थी, जिसमें काशी के प्रायः सभी स्कूल-कालिजों के प्रतिनिधि कवि-छात्रों ने भाग लिया था। मुझे याद है कि [illegible] मैं [illegible] के [illegible] [illegible] के [illegible] और [illegible]

लगी थी, जैसा परीक्षा के अवसर पर होता है। डेस्कों पर दो-दो कागज के पन्ने तथा एक-एक पेन्सिल रखी थी। हम लोगो के अपने-अपने स्थान पर बैठ जाने पर प्रतियोगिता के लिए जो विषय काली तख्ती पर लिख दिया गया था वह था—'हिन्दू विश्वविद्यालय'। ऐसे गद्यात्मक विषय से शायद ही कभी किसी उदीयमान कवि को माथापच्ची करनी पडी हो। पर प्रतियोगिता का उत्साह और किशोर मन की स्पर्धा! सम्भवत दो घटे का समय और कम-से-कम बीस पक्तियाँ लिखने का आदेश था। उस प्रतियोगिता के फलस्वरूप उस वर्ष 'जयनारायन हाईस्कूल' मे 'चाँदी का कप' गया था, जिसके कारण मुझे अपने सहपाठियो, स्कूल के छात्रो तथा अध्यापकवर्ग से पर्याप्त स्नेह-स्वीकृति मिली थी।

बनारस से द्वितीय श्रेणी मे हाईस्कूल की परीक्षा मे हिन्दी मे विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण होने पर मैने सन् १९१९ की जुलाई मे अपने भाई के साथ म्योर कालेज मे भर्ती होने के लिए प्रयाग की साहित्य उर्वर, शान्त, सस्कृत भूमि मे प्रवेश किया जिसकी स्नेहपूर्ण अचल-छाया मे मेरे किशोर-कवि को मानसिक पोषण तथा आत्म-विश्वास का तारुण्य प्राप्त हुआ। कौसानी के बाद प्रयाग ही मुझे सबसे प्रिय रहा है और वह मेरा घर या गृह-नगर ही बन गया है। प्रयाग मे मुझे आत्म-सस्कार तथा विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तथा आवश्यक अवकाश मिल सका। जुलाई के मध्य मे कालेज खुलने पर मै प्रयाग पहुँचा था। नवम्बर के महीने मे समावर्तन समारोह के अवसर पर हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे सायकाल एक कवि-सम्मेलन का आयोजन था, जिसका सचालन प्रो० शिवाधार पाडेयजी ने किया था जो कालेज मे अग्रेजी के प्राध्यापक

थे। कवि-सम्मेलन का विषय था 'स्वप्न'। कवि-गोष्ठियाँ तब समस्यापूर्ति की परम्परा से मुक्त हो रही थीं और उनके लिए विषय निर्धारित करने की प्रथा बन गई थी। वह पहला ही कवि-सम्मेलन था जिसमें मुझे भाग लेने का अवसर मिला था। मैं तब अत्यन्त संकोचशील था। 'स्वप्न' पर लिखित मेरी कविता का श्रोताओं पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था, जिससे प्रसन्न होकर दूसरे दिन उदार-हृदय प्रो० पांडे ने मुझे शेक्सपियर के सम्पूर्ण नाटकों का एक सुन्दर सचित्र मूल्यवान संस्करण अपनी ओर से उपहार-स्वरूप दिया था, और उसके पहले पृष्ठ पर मुझे अंग्रेजी साहित्य के प्रति अनुराग रखने का आदेश दिया था। पांडेजी के उपहार से, जो मेरे लिए पुरस्कारस्वरूप था, मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला था। मेरे लम्बे बालों के कारण छात्रावास तथा कालेज के लड़कों का ध्यान मेरी ओर जाता ही था, उस कवि-सम्मेलन में मेरी रचना की सफलता के बाद मुझे प्रयाग में कवि के रूप में स्वीकृति मिल गई। मेरी 'स्वप्न' शीर्षक रचना अगले महीने 'सरस्वती' में प्रकाशित हो गई जो तब हिन्दी की प्रमुख पत्रिका समझी जाती थी। तब उसका सम्पादन [illegible] पंडित श्री बख्शीजी करते थे। वह रचना अब मेरे 'पल्लव' नामक काव्य-संग्रह में है, जो १९२६ में आरम्भ में इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। इससे पूर्व १९२२ में मेरी 'उच्छ्वास' नाम की कविता पुस्तिका-रूप में निकल चुकी थी। अगले वर्ष के कवि-सम्मेलन में जिसका सभापतित्व श्री हरिऔधजी ने किया था, मैंने 'छाया' शीर्षक अपनी रचना पढ़ी थी। वह सम्मेलन श्री [illegible] के संयोजन में बड़ी धूम से हुआ था और उसमें बाहर से प्रतिष्ठित साहित्यिकों ने भी पर्याप्त संख्या में उपस्थिति

थी। मेरा कविता-पाठ सुनकर हरिऔधजी अपनी सहृदयता के कारण इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बीच ही में उठकर अपने गले से लम्बा फूलों का गजरा उतारकर मेरे गले में डाल दिया। श्रोताओं ने करतल-ध्वनि से उसका समर्थन कर मुझे उत्साहित किया था। उन दिनों की ऐसी अनेक घटनाएँ मन में अपनी कविताओं के प्रति आत्म विश्वास जगा-कर मुझे आशा और बल प्रदान करती रहीं। मुझमें यह भावना और भी दृढ़ होने लगी कि मुझे कवि-जीवन के लिए गम्भीर रूप से अपना निर्माण करना है। उन दिनों लेखन या सृजन-कर्म साहित्य-सेवा तथा मातृभाषा की सेवा समझा जाता था, उसके आर्थिक पक्ष का तब प्रश्न ही नहीं था। स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समान ही राष्ट्रभाषा या मातृभाषा का प्रेम भी दिन-प्रतिदिन महत्त्व प्राप्त करता जा रहा था।

हाईस्कूल तक मेरा पाठ्य-विषय विज्ञान रहा, संस्कृत की ओर अभिरुचि होने के कारण कालेज में मैंने संस्कृत लेना अधिक हितकर समझा। अतः प्रयाग आने के बाद मेरे संस्कृत-साहित्य के ज्ञान में अधिक अभिवृद्धि हुई। कालिदास की कृतियों का मुझ पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। कालिदास की उपमाओं में तो एक विशिष्टता तथा पूर्णता मिली ही, उसकी सौन्दर्य-दृष्टि ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। कालिदास के सौन्दर्य-बोध की चिर-नवीनता को मैं अपनी कल्पना का अंग बनाने के लिए लालायित हो उठा। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के प्रति प्रारम्भ में मुझे प्रो० शिवाधार पाण्डेयजी से बड़ी सहायता मिली, जिनके प्रति मैं उपकृत हूँ। उन्नीसवीं शती के कवियों में कीट्स, शेली, वर्ड्सवर्थ तथा टेनिसन ने मुझे गम्भीर रूप से आकृष्ट किया। कीट्स के शिल्प-वैचित्र्य,

तो भी द्विवेदी-युग की कविता का विस्तार नहीं तो विकास माना जाता है। वैसे मुझे कला-शिल्प-सम्बन्धी प्रेरणा मुख्यतः अंग्रेजी कवियों से और भावना-सम्बन्धी सन्तोष प्रारम्भ में रवीन्द्रनाथ तथा शेली से मिला। द्विवेदी-युग की कविता से, रूप-सौष्ठव तथा भाव-ऐश्वर्य दोनों ही दृष्टियों से, मुझे असन्तोष रहा है। द्विवेदी-युग की काव्य-शैली का परिष्कार छायावाद के जन्म के बाद हुआ। छायावाद का विरोध द्विवेदी-युग के आलोचकों ने प्रारम्भ में निर्मम रूप से किया, स्वयं द्विवेदीजी भी उस विरोध को सुलगाते रहे। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली का प्रश्न भी तब मरा नहीं था। 'पल्लव' तथा 'वीणा' की भूमिकाओं मे उस युग के वातावरण का आभास मिलता है। 'पल्लव' की भूमिका मैंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सभापति के पद से दिए हुए श्री रत्नाकरजी के भाषण के उत्तर मे लिखी थी—विशेषकर भूमिका का पूर्वार्ध। वीणा की अप्रकाशित भूमिका, जो 'गद्य पथ' मे मिलती है, सुकवि किंकर के नाम से सरस्वती में छायावाद पर द्विवेदीजी द्वारा किए गए व्यंग्य के प्रत्युत्तर मे। सन् '२२ मे प्रकाशित मेरी प्रथम पुस्तिका 'उच्छ्वास' को आलोचकों के कटु प्रहार सहने पड़े थे। उसे किसी ने 'प्रेटी नानसेंस' बताया तो किसी ने 'बीसवीं सदी का महाकाव्य'। वयोवृद्ध कवियों मे श्रीधर पाठकजी से मुझे निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा। वह मुझे बार-बार 'यू आर द फ्यूचर पोएट ऑफ इंडिया' कहा करते थे। उनके ऐसे महत् स्नेह तथा आश्वासन-भरे उदार-हृदय वाक्यों से मुझे आत्म-बल मिला है। दूसरा प्रोत्साहन मुझे प्रारम्भ में प्रो० पांडेयजी से मिला जिसकी चर्चा ऊपर कर चुका हूँ।

'पल्लव' काल की रचनाओं तक मेरी अन्तर्दृष्टि काव्य-

फलत मै भाई के साथ हो लिया। गाधीजी के दर्शन करने की इच्छा किसे न होगी! पर परीक्षा की व्यग्रता के कारण बाहर से मेरा मन तटस्थ सा था।

तीसरे पहर का समय था। पुराने आनन्द भवन—अब स्वराज भवन—मे स्कूल-कालेज के छात्रो की अपार भीड थी। भाई ने मुझे ले जाकर पहली पक्ति मे खडा कर दिया। उधर महात्माजी मच पर उपस्थित हुए और 'महात्मा गाधी की जय' के तुमुल नाद मे वातावरण गुञ्जरित हो उठा। थोडे-से चुने हुए सयत शब्दो मे एक सुथरे-शान्त व्यक्तित्व ने छात्रो को सम्बोधन करते हुए देश की पराधीनता तथा दुरवस्था का चित्र खीचकर, असहयोग आन्दोलन का महत्त्व समझाया और छात्रो से सरकारी शिक्षा-सस्थाओ मे पढना छोडने तथा देशसेवा के कार्य मे हाथ बँटाने का आग्रह किया। इस स्वल्प भाषण के उपरात उस खादी की शुभ्र मूर्ति ने आदेश दिया कि जो लडके स्कूल-कालेज छोडने को तैयार हो वे हाथ उठाकर अपनी सम्मति प्रकट करे। प्राय पचास-साठ हाथ सहसा तारुण्य के उत्साह के अकुरो की तरह हवा मे उठ गए। मेरे भाई मेरे पीछे खडे थे। उन्होने कुहनी पकडकर मेरा हाथ भी ऊपर कर दिया। शेष लडको के चले जाने पर मैने देखा कि भाई हम लोगो के साथ, जिन्हे वही रुकने का आदेश मिला था, नही है। होस्टल पहुँचने पर उन्होने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा, "देखो, अगर हम दोनो मे एक भी पढना न छोडता तो लोग क्या कहते? और अगर दोनो ही छोड देते तो घर वाले अर्थात् पिताजी और बडे भाई क्या कहते? बात समाप्त हो गई। कुछ दिनो बाद हममे से अनेक छात्रो ने किशोर उत्साह के उबाल के घट जाने पर फिर से कालेज जाना शुरू कर दिया, पर मुझमे

ऐसा न हो सका। लम्बे बालों के कारण और कुछ कवि होने के कारण भी इन दो ही वर्षों में अनेक लोग मुझे जानने लगे थे। छात्रों के अतिरिक्त और भी कई लोगों ने मुझे कालेज से असहयोग करने के लिए बधाइयाँ दीं, जिससे पढ़ने का मेरा रहा-सहा उत्साह भी जाता रहा। राजनीति के लिए मेरी कभी भी अभिरुचि नहीं रही। कालेज के बन्धन से मुक्त हो जाने पर भी मैंने अपना समय पूर्ववत् अध्ययन-मनन में ही व्यतीत किया।

इस छोटी-सी घटना ने मेरे जीवन की धारा को जैसे एकदम ही मोड़ दिया, और मुझे स्वतन्त्र रूप से अध्ययन, चिन्तन तथा लेखन करने के अतिरिक्त और किसी कार्य के योग्य नहीं रखा। यह बड़ी विचित्र बात है कि परिवार के लोगों से—विशेषकर अपने भाइयों से—मुझे अपने जीवन में किसी प्रकार की भी सहायता, सहानुभूति या प्रोत्साहन नहीं मिला। हाँ, उन्होंने कालेज छोड़ने की घटना के अतिरिक्त और मेरा कभी किसी बात में विरोध नहीं किया। उनका मनोभाव इतना निष्क्रिय तथा उदासीन रहा कि उन्होंने दूर से भी कभी मेरी देख-रेख की हो या मेरे विकास पर प्रच्छन्न दृष्टि ही रखी हो, ऐसा मुझे नहीं प्रतीत हुआ। घर की ओर से तटस्थता के इस शुष्क निर्मम शून्य में मुझे अपने जीवन तथा कवि बनने की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए स्वयं ही कठिन मार्ग रचना पड़ा। मैंने देश के आन्दोलन में बाहर से तो कभी भाग नहीं लिया और न भाई की तरह मैं कभी कारागार ही गया, पर हमारे राष्ट्रीय जागरण के आन्दोलन का जो भीतरी पक्ष रहा है उसमें मैं निरन्तर जूझता रहा हूँ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैंने उसका मूल्य भी चुकाया है। कालेज छोड़ने के लिए मुझे बाहर से नहीं भीतर से ही बाध्य किया गया पर

राष्ट्रीय जागरण का भाग बनने के लिए मेरा मन भीतर से सदैव उत्सुक रहता था। भाई ने बाहर की आग-भर हटा दी, भीतर की कोई आग जग उठी। अपने व्यक्तिगत जीवन-सघर्ष के बारे मे यहा न लिखकर मै अपने मानसिक, बौद्धिक तथा चेतनात्मक द्वन्द्व का आभास सक्षेप मे देने का प्रयत्न करूँगा।

इक्कीस वर्ष की अबोध अवस्था मे कालेज छोडने के साथ ही मैने, साधारण अर्थ मे जिसे जीवन कहते है, उसके द्वार अपने लिए सदा के लिए बन्द कर, अपने को ससार मे बडा ही अकेला पाया। मैने अपनी कई रचनाओ मे भी इस ओर सकेत किया है

'वय सधि की ओट खडा था सघर्षों का पर्वत यौवन।' अथवा
'एकाकीपन का अधकार दु सह है इसका मूक भार
इसके विषाद का रे न पार।' इत्यादि।

अकेलापन—भीतर और वाहर केवल अकेलापन, इस भावना ने मुझे वडे ही गहरे वेग से आक्रान्त किया। वाहर की जीवन-समस्याओ का तो किसी-न-किसी प्रकार मुझे सामना करना ही पडा, पर सवसे वडा सामना मुझे अपना ही, अपने अपरिचित, अशिक्षित मन का ही करना पडा। अपने को अपने इतने अधिक दुर्वोध नैकट्य मे पाकर मेरा चित्त घवडाकर सन्त्रस्त हो उठा। इस शून्य, अगम्य एकाकी आत्म-साक्षात्कार के दु सह दबाव के कारण ही मै अपने और अपने चारो ओर की परिस्थितियो के जगत् के वारे मे सोचने-समझने को वाध्य हो उठा। कालेज की शिक्षा से भीतर के नयन खुलते है, यह मै नही देखता। पर उसमे, एक ऐसी वयस मे, जवकि मन मे जिज्ञासा का उदय होने लगता है, एक नव वयस्क, सवके साथ निर्धारित पथ पर चलने मे, अपने को भूला अवश्य रहता है। अपने

ग्रन्थ-स्पर्श के बारे में यहाँ अधिक न लिखकर केवल इतना ही कहूँगा कि अनेकानेक प्रकार की धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, सामाजिक जिज्ञासाएँ, प्रखर प्रश्नों का रूप धारण कर, मेरे मन को तीक्ष्ण तीरों की तरह बेधा करतीं और अपने हृदय के अज्ञात घावों में मरहम लगाने के अभिप्राय से मैं अनेक प्रकार के ग्रन्थों—उपनिषद्, गीता, रामायण, रामकृष्ण वचनामृत, विवेकानन्द, रामतीर्थ, पातंजलि, योग-वाशिष्ठ्य, रस्किन, टॉलस्टॉय, कार्लाइल, थोरो, इमर्सन आदि अनेक विचारकों का गम्भीर, ध्यानपूर्वक पारायण करने लगा। अपने को स्वयं शिक्षित करना कितना कठिन तथा कठोर कार्य है, इसका मुझे थोड़ा-बहुत अनुभव है। गीता से मैं बचपन से ही परिचित था। मेरे 'हार' नामक उपन्यास में गीता-दर्शन की चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। तुलसी रामायण का स्वर तब मुझे नीरस, नीति-निष्ठ (अब मध्ययुगीन) लगता था; [illegible] सूत्र से मेरे हृदय में वास्तविक जैसे सहज रस के लिए, अनुराग के बीज उत्पन्न हो गए थे। मुझे स्मरण है जब दर्शन-ग्रन्थों, टॉल्सटॉय की पाप-पुण्य की धारणाओं, तथा शरत्-साहित्य, भर्तृहरि आदि के जीवन-निषेध-परक निर्मम प्रभावों से मेरा हृदय हिमशिलाखण्ड की तरह जमकर कठोर, निष्प्राण तथा [illegible] हो गया था और मुझे उन्निद्र-रोग रहने लगा था, तब बाइबिल की सहज, प्रेमसिक्त, जीवन-मधुर अन्तर्दृष्टि-भरी उक्तियों से मुझे बड़ी सान्त्वना तथा शान्ति मिलती थी और प्राणों की शिराओं में नवीन रस-स्रोत प्रवाहित होने लगता था। बाइबिल मेरी दृष्टि में एक अद्भुत ग्रन्थ है। ईसा की दृष्टि एक आध्यात्मिक कवि-दृष्टि है, जो बुद्धि को बिना किसी बौद्धिक विश्लेषण-संश्लेषण के चक्कर में डाले हृदय को सहज रीति से स्पर्श

से सहलाकर शान्ति तथा उज्ज्वल तृप्ति से भर देती है। एक ओर काव्य-प्रणयन—पल्लव की सभी बड़ी-बड़ी रचनाएँ प्राय उसी समय लिखी गई थी—और दूसरी ओर यह शुष्क अन्तर-मन्थन मेरे जीवन मे सन् १९२६ तक निरन्तर चलता रहा। सन् '२६ मे एक दिन अपने आप ही अनेक दिनो के विचार-सघर्ष के बाद, जैसे वह निर्मम हिम-शिला पिघलकर विलीन हो गई, और अपने नवीन सूक्ष्म अनुभवो से एक ओर जहा मुझे शान्ति, प्रकाश तथा आनन्द मिला वहाँ दूसरी ओर एक दूसरे ही प्रकार के सघर्ष ने मेरे भीतर जन्म ले लिया। अब मुझे अपनी ही दृष्टि मिल गई थी जिसके प्रकाश मे मै अपने को, अन्य विचारको को तथा चतुर्दिक् के सामाजिक जीवन को समझने का अश्रान्त प्रयत्न करने लगा। अनेक सकट-क्षण भी इसके बाद मेरे जीवन मे आए, पर अपने अदम्य विश्वास की सहायता से मै उन्हे पार कर सका। अपने बारे मे एक बात यहाँ और बता दूँ कि मेरा कैशोर—ससार के प्रति अजानता तथा अपने ही मे डूबकर सन्तुष्ट रहने की वृत्ति—मेरी भावना के जीवन मे प्राय तीस-पैंतीस वर्ष की दीर्घ अवस्था तक जीवित रहा और उसने, जब तक मेरा विचारो का मन सशक्त नही हो गया, मुझे अनेक प्रकार के बाहरी सकटो के पक मे गिरने से बचाया। 'पल्लव' के प्रकाशन के बाद सन् '२६ से '३० तक, और उसके बाद भी, मुझे इतने सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभव होने लगे कि मुझे लिखना प्राय एक प्रकार से स्थगित करना पड़ा और मै पुन शान्त, स्थिर मानसिक स्थिति प्राप्त करने की प्रतीक्षा करने लगा जो अनुभवात्मक से अधिक सृजनशील हो। इसी बीच हमारी पारिवारिक स्थिति विशेष रूप से डॉवाडोल हो उठी और मेरे पिताजी तथा मॅझले भाई का भी देहान्त हो गया। उमरखैयाम की





रुबाइयों तथा अनेक विदेशी कहानियों का अनुवाद मैंने इण्डियन प्रेस के लिए इन्हीं दिनों किया था और 'वीणा' तथा 'ग्रन्थि' नामक मेरे काव्य-ग्रन्थों का प्रकाशन भी इसी काल में हुआ था। अपने बाहरी-भीतरी कठोर संघर्ष के कारण सन् १९२९ में मेरा शारीरिक स्वास्थ्य टूट गया और मुझे अनुभव हुआ कि जैसे मैं अपने मन के बोझ से गिर पड़ा हूँ। डॉक्टर के परामर्श के अनुसार मुझे एक वर्ष तक विश्राम लेना पड़ा। किन्तु उस समय भी मेरी अन्त-शक्ति अथवा आस्था अक्षुण्ण बनी रही और जो समस्याएँ तब मेरे मन में चल रही थीं उन्हें मैं उस अवकाश-काल में एकाग्रचित्त से सुलझा सका। संक्षेप में सन् '२९ से '३१ तक मेरा आत्म-शिक्षण का युग रहा है। मुझे सब प्रकार की विचारधाराएँ तथा जीवन-दर्शन जिनके सम्पर्क में मैं आ सका, अपर्याप्त तथा अपूर्ण प्रतीत हुए और इधर, भीतर-ही-भीतर, एक अधिक सर्वांगीण दर्शन अथवा चैतन्य की उपलब्धि की आशा से आनन्दित जागरूक तथा अन्तः-सक्रिय रहने लगा। उसी युग के सम्बन्ध में मैंने 'आत्मिका' नामक अपनी संस्मरणात्मक रचना में संकेत किया है:

यह पहिला ही असहयोग था, बापू के शब्दों से प्रेरित
छिड़ा [illegible] को ले मैं, [illegible] !

बाहर का नवयुग संघर्ष, भीतर और मन का मंथन,
पथ-दर्शक था [illegible] !

[illegible],
[illegible] !

करवट लेता भावी [illegible]
[illegible] बनाता।

[illegible],
[illegible] !

अविदित भय मे कँपता अतर, स्वर्गिक सकेतो से पोषित,
स्वर्ग-नरक मानुष तन मन मे, प्रलय मचाते विश्व त्रिजग हित !

दुखती घायल मन शिराएँ, जग के आघातो से निष्ठुर,
स्वप्नो के स्वच्छंद उतरते, मुग्ध विस्मित, आदोलित कर उर !

इत्यादि

हो जाता, इसलिए मै प्राय बरामदे मे टहलते हुए, और कभी पद-नृत्य करते हुए भी, पुस्तकें पढ़ा करता था। तब मेरे मन मे बाहरी व्यक्तित्वो तथा परिस्थितियो का प्रभाव पड़ना शुरू नही हुआ था। वह मेरी

> 'गाई हूँ फूलो का हास लोगी मोल लोगी मोल!' अथवा
> 'उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत फूट रहे नव-नव जलस्रोत!'

वाली मन स्थिति थी। पढ़ते समय विचार मेरे सामने चित्रों मे उपस्थित होने लगते थे। उन दिनो मैने कुछ समय के लिए पढ़ना स्थगित कर कपड़े मे फूल-पत्ते काढ़ने का काम हाथ मे ले लिया था। अपनी इस भावातिरेकपूर्ण मानसिक स्थिति का मूल्याकन मै पीछे कर सका। इन्ही दिनो मेरी मित्रता श्री पी० सी० जोशी से घनिष्ठ होती गई। मेरे भावाक्रात मन को उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से बड़ी सात्वना मिलती। जोशी मुझ-सा श्रोता पाकर वाचाल हो उठते थे। उनके विचारो द्वारा मेरे मन मे मानव-सभ्यता के राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक विकास की रूपरेखाएँ धीरे-धीरे अकुरित होने लगी, जिन्हे मै पीछे अपने अध्ययन-मनन से अधिक व्यापक एव समन्वित रूप मे समझ सका। मेरा मन उन दिनो ईसा की उदात्त प्रेम-चेतना मे निमग्न रहता था, जिसे मैने ईश्वर-प्रेम तथा विश्व-प्रेम के रूप मे ग्रहण किया था। मेरा विश्व-प्रेम का क्षितिज जोशी के ऐतिहासिक ज्ञान तथा सामाजिक भविष्य की सभावनाओ से तब विस्तृत तथा वस्तुमूलक बनने की चेष्टा कर रहा था। मेरी विश्व-प्रेम की भावना ने तब कोई विशेष आकार अथवा रूप-रग ग्रहण नही किये थे। जोशी निश्छल, कर्मठ व्यक्तित्व के नवयुवक थे, मेरा हृदय उनकी मित्रता का सम्मान करता था। इस प्रकार पच्चीस से तीस वर्ष तक के इस अध्ययन-मनन के युग मे जहाँ एक ओर मेरे मन मे भीतर

की ओर जाने अथवा प्रवेश करने के लिए एक सोपान अथवा सेतु बन गया वहाँ बाहर की ओर भटकने अथवा बिखरने को एक पथ या पगडण्डी भी बन गई थी, जिसके सार्थक समन्वित उपयोग से पीछे मुझे अपने मूल्यांकन सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में सहायता मिली। इसके उपरान्त अपनी अस्वस्थता के कारण विश्राम की आवश्यकता पड़ने पर मैं सन् ३१ में कालाकाँकर चला गया। कुँवर सुरेशसिंह से मेरा परिचय पहले केवल पत्र-व्यवहार तक सीमित था। जिस प्रेरणा ने मुझे कालाकाँकर भेजा वह वहाँ फलीभूत होती दिखाई दी। मेरे मन को वहाँ के स्वच्छ ग्रामीण वातावरण से सांत्वना तथा शक्ति मिली। मैं वहाँ सब मिलाकर आठ-दस साल रहा। कालाकाँकर में मेरी युवावस्था के सर्वश्रेष्ठ वर्ष सन् '३० से '४० तक वानप्रस्थ स्थिति में ज्ञान-साधना में पशु-पक्षियों के साथ व्यतीत हुए। शारीरिक परिस्थितियों के अतिरिक्त भी मेरे भीतर तब एकान्त का इतना दुर्वह बोझ तथा मानसिक द्वन्द्व रहा कि मुझे तारुण्य की प्रमाद-भावना के सुनहले विष को पी जाना पड़ा। सम्भवतः वह आगे चलकर अधिक उपयोगी तथा व्यापक रूप में पुष्पित-पल्लवित होकर सामने आ सके। कालाकाँकर के संस्मरण मैंने इस प्रकार छन्दबद्ध किये हैं :

गंगा तट था, श्यामल वन थे, नव प्राणों में भरते मर्मर
जल कलरव, दल मर्मर करते, प्रकृति नीड़ था सुन्दर सुन्दर।
मैं कुमार उस ग्राम राज्य का, जहाँ बड़े सुख से [illegible]
थे मानस मधन [illegible] थे, भरा सुनहली स्मृतियों से मन।
टेसू के पावक वन में [illegible], नद [illegible] के [illegible],
मनन [illegible] सूना मन, नीड़ [illegible] सुन्दर।

इत्यादि।

'नक्षत्र' नामक [illegible] गंगा किनारे ऊँचे टीले पर बनी [illegible]

[illegible] एक छोटी-सी [illegible] थी, जिसे मैंने रहने के लिए



चुना था। कालाकाकर मे मुझे मानसिक स्वास्थ्य लाभ हुआ। उन दिनो मेरे मन मे जो सघर्ष चल रहा था उसका आभास थोडा-बहुत 'गुजन' की रचनाओ तथा 'ज्योत्स्ना' के रूपक मे मिलता है। गुजन मे मेरी व्यक्तिगत साधना के प्रगीत है

> तप रे मधुर-मधुर मन !
> विश्ववेदना मे तप प्रतिपल, जग जीवन की ज्वाला मे गल,
> बन अकलुष उज्ज्वल औ' कोमल, तप रे विधुर विधुर मन !

अकलुष, उज्ज्वल और कोमल ये तीन गुण तब मेरे मन मे बाइबिल की पवित्रता, उपनिषदो के प्रकाश तथा कविता-सम्बन्धी कला-प्रेम के प्रतीक रहे है। 'गुजन' मे 'सम दुख

युग के कृत्यों के द्योतक मेरी आत्म-साधना के अनेक छोटे-छोटे प्रयोग हैं, जिनमें मैंने मानसिक द्वन्द्वों में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनमें विश्व-जीवन के लिए आत्म-त्याग तथा प्रेम का संदेश निहित है। समस्त जीवन के व्यक्तिगत संघर्ष से कुण्ठित न होकर उसका समाधान विश्व स्तर पर तथा ऊर्ध्व स्तर पर खोजने की मेरी प्रवृत्ति पहले से ही रही है।

'स्थापित कर जग में अपनापन' अथवा 'मानव जग में बँट जाये सुख दुख से औ' दुख सुख से' अथवा 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' या 'अपनी डाली के काँटे बेधते नहीं अपना तन' तथा 'लगता अपूर्ण मानव जीवन, मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन' आदि अनेक उदाहरण मेरी उस समय की भावना के द्योतक हैं, जिन्हें 'गुंजन' में अभिव्यक्ति मिली है। 'ज्योत्स्ना' में मैंने अपने विश्व-जीवन के स्वप्न को अवतरित करने की चेष्टा की है। उस समय मेरे मन में जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा लोकजीवन-सम्बन्धी धारणाएँ थीं तथा जो मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक आदर्श मुझे आकृष्ट करते थे उन्हें मैंने उस नाट्य-रूपक के स्वरूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। कल्पना-प्रधान होने के कारण, सम्भवतः, 'ज्योत्स्ना' की ओर कम लोगों का ध्यान गया है। वह मेरी तब की सौन्दर्य-चिंतन की भावना का भी स्पष्ट निदर्शन है। 'गुंजन' तथा 'ज्योत्स्ना' में मैंने विगत वर्षों की अपनी सौन्दर्य-साधना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

से बाहरी परिस्थितियों में सम्बन्धित बाधाएँ तथा कठि-
नाइयाँ अधिक रही हैं जिनके कारण मेरा व्यक्तित्व पर्याप्त
पुष्कल नहीं हो सका। पिताजी का संरक्षण उठ जाने के
कारण मुझे अपने को बिलकुल ही भिन्न जीवन-परिस्थितियों
का सामना करने के लिए तैयार करना पड़ा, जिनके अनु-
रूप मन को ढालना श्रम-साध्य तथा कठिन प्रतीत हुआ और
उन नवीन परिस्थितियों से ऊपर उठने में समय भी लगा।
इस बार कालाकाँकर में प्राय दो वर्ष तक रहने के बाद
मैं फिर अलमोडा चला गया। वहा मुझे मार्क्स तथा फ्रायड
को पढने का विशेष अवसर मिला और अपने भाई से मार्क्स
का आर्थिक पक्ष समझने में भी सहायता मिली। काला-
कॉकर में ग्रामवासियो के अभावग्रस्त जीवन का अज्ञात
प्रभाव मेरे सौन्दर्य तथा आदर्शप्रिय मन में प्रच्छन्न रूप
से अवश्य ही पडने लगा था। अलमोडे में मैंने डेढ-दो वर्षो
में इन नवीन ऐतिहासिक तथा प्राणिशास्त्रीय विचार-
धाराओ का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मार्क्स के
सिद्धान्तो का थोडा-बहुत परिचय मुझे जोशी से भी मिल
चुका था। इन विचार-धाराओ के प्रमुख तत्त्वो के आधार
पर युग-जीवन को समझने की मेरी चेष्टा निरन्तर चलती
रही। गाधीजी के क्रियाशील व्यक्तित्व तथा असहयोग
आन्दोलन में भारतीय आदर्शवाद, जो एक नवीन सक्रिय
रूप में प्रकट हो रहा था, की ओर भी मेरी दृष्टि कालेज
छोडने के बाद से सदैव जागरूक रही, किन्तु प्रथम महा-
युद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचार-धारा को
आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन
सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे-धीरे ध्यान
आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे
मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध में जिस नवीन

रचनाओं में 'युगान्त' से ही आने लगे थे और प्रकृति के युग से मेरा ध्यान मानव-युग की ओर जाने लगा था। 'पल्लव' की अन्तिम रचना 'छायाकाल' जिसमें मैंने अपनी विगत भावना-धारा से विदा ली है और 'गुंजन' में 'तागना अपूर्ण मानव जीवन' आदि रचनाएं मानस में घटित हो रहे इसी परिवर्तन की द्योतक हैं।

इन वर्षों में, मेरे कवि-जीवन के विकास की दृष्टि से, एक और महत्त्वपूर्ण घटना हुई, मुझे पहली वार महात्मा गांधी के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हो सका। मेरे भाई, जो अलमोड़ा जिला कांग्रेस के मन्त्री थे,



सघर्ष करना पडा, इसी सघर्ष मे मै युग-जीवन मे व्याप्त प्रच्छन्न विप के स्वरूप को समझ सका। मेरे कवि-हृदय को नव युग मगल के लिए एक सर्वांगपूर्ण रससिद्ध चेतन्य की खोज थी, जिसकी प्राप्ति के लिए गाधीजी का अत स्पर्श शुभ्र सोपान बन सका। सन् '४० मे मैने 'ग्राम्या' नामक अपने काव्य-सकलन मे 'महात्माजी के प्रति' शीर्षक कविता मे लिखा था

विश्व सभ्यता का होना था नख शिख नव रूपान्तर
राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यो ही निष्फल !

'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की रचना मेरे कालाकाँकर के दूसरे निवास-काल मे हुई। सन् १९३६ के जाडो मे मै फिर कालाकॉकर चला गया और तब से सन् '४० तक अधिकतर वही रहा। इस युग मे ग्राम-जीवन के वातावरण तथा रहन-सहन का निरीक्षण-परीक्षण मै अधिक अच्छी तरह कर सका और अपने आर्थिक राजनीतिक विचारो तथा सास्कृतिक भावना और कवि-कल्पना की पृष्ठभूमि मे उसे ग्रहण कर उसके पुनर्निर्माण की सभावनाओ पर विचार करने लगा। कोयल कठ से बोलने वाली, आम्र मजरियो से सुनहले अग सँवारने वाली, असीम शोभामयी, गॉवो की प्राकृतिक श्री, मौन निरभ्र विस्मय-भरे नील आकाश के नीचे अपने मातृ अक मे युगो के घोर कुरूप जघन्य दारिद्रय को लिये जैसे नतमस्तक बैठी थी।

तीस कोटि सतान नग्न तन, अर्ध क्षुधित, शोषित निरस्त्र जन
मूढ असभ्य अशिक्षित निर्धन—नतमस्तक तरु तल निवासिनी !

'ग्राम्या' मे 'भारतमाता' की इस 'मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी' की गाथा अनेक छदो मे अकित है। कालाकॉकर मे मेरे सौन्दर्य-प्रेमी हृदय को गॉवो की अत्यन्त दयनीय दुरवस्था का दृश्य देखकर अनेक बार कठोर आघात भी

लगे हैं और मेरा विचार-जगत् क्षुब्ध तथा विचलित होता रहा है :

> सुन्दर कहाँ रे कवि को जग में युग का नहीं सत्य शिव सुन्दर ?
> कँप-कँप उठते उसके उर की व्यथा-विमूर्छित वीणा के स्वर !
>
> . . . .

अथवा

> आता मौन प्रभात अकेला, संध्या भरी उदासी,
> यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया सी।
>
> . . . .
>
> प्रकृति धाम यह, तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित
> यहाँ अकेला मानव ही रे, चिर विषण्ण, जीवन्मृत। आदि

अनेक रूप से मैंने अपने व्यक्तिगत तथा लोक-जीवन सम्बन्धी अवसाद को उस काल की रचनाओं में वाणी दी है। अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं के लिए निश्चिन्त होने पर भी, उन वर्षों के अपने भावनाजनित निर्मम सूने एकाकीपन को, जिसके लिए मैंने 'मौन रहा एकाकी जीवन साथी स्नेह सहारा' लिखा है, मैं अपने युग-चिन्तन तथा भावी मानवता की कल्पना के स्वप्नों से ही परिपूर्ण कर स्पन्दित बना सका हूँ जो मेरे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए भी आवश्यक हो गया था। प्रकृति-निरीक्षण, अध्ययन तथा ग्राम-जीवन की विपन्नता का निरीक्षण, कालाकाँकर के निवास-काल के ये मेरे प्रमुख जीवन-अवलम्ब रहे हैं। सन् '३६ से '४० तक मैंने अपना अधिकांश समय केवल पठन-पाठन, चिन्तन तथा सृजन में ही दिया है, उन वर्षों में मेरा बौद्धिक क्षेत्र भी व्यापक रहा है। विश्व साहित्य, आधुनिक ज्ञान तथा पूर्व-पश्चिम की प्राचीन-नवीन विचार-धाराओं से मैं जो भी ग्रहण कर सकता था उसे मैंने आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। [illegible] [illegible] [illegible] के निकट उस युग में मैं भारतीय संस्कृति के प्रति

अनेकात विचार-सरणियो का भी गभीर मनन किया और मानव-चेतना के नवीन विकास की दिशा का आभास भी मेरे मन को इसी युग मे मिला, जिसके अनेकानेक उदाहरण 'ज्योत्स्ना', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे मिलते है

जग जीवन के अतर्मुख नियमो से स्वत प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो रहा आज परिवर्तित।
नव प्रकाश मे तमस युगो का होगा स्वय निमज्जित
प्रतिक्रियाएँ विगत गुणो की होगी स्वय पराजित।

अथवा

छायाएँ है सस्कृतियाँ मानव की निश्चित
वह केन्द्र, परिस्थितियो के गुण उसमे बिम्बित,
मानवी चेतना खोल युगो के गुण कवलित
फिर नव सस्कृति के वसनो से होगी भूषित। इत्यादि।

कालाकाँकर मे कुँवर सुरेशसिह तथा उनकी पत्नी से मुझे परिवार के प्राणी की तरह जो स्नेह-सद्भाव मिला उसके लिए कृतज्ञता प्रकट न करना अक्षम्य होगा। श्रीमती सुरेशसिह के जन्म-दिवस के अवसर पर लिखी हुई मेरी कविता उनके प्रति मेरे स्नेह की शुभ्र स्फटिक गवाक्ष है। यदा-कदा वहाँ साहित्यिक मित्र भी आते रहते थे और कभी मै ही प्रयाग या लखनऊ मे उनके पास चला जाता था, जिससे जीवन की विरस एकरूपता भग होती रहती थी।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे मैने अपने सामाजिक दर्शन को वाणी दी है। मेरे बहुत से आलोचको को मेरी इस काल की रचनाओ मे असतोष है—काव्य-प्रेमियो को इसलिए कि 'युगवाणी' मे पल्लव के मासल शिल्प का अभाव है एव 'ग्राम्या' मे गाँवो को खोखली प्रचलित भावुकता मे लपेटकर स्वर्ग नही बताया गया है, राजनीतिक मतवादियो को इसलिए कि उनमे उन्हे अग्नि-भरी विध्वसकारी फुकार न मिलकर केवल रचनात्मक मानवीय पुकार ही मिल

विकास युद्धक्षेत्र ही मे हुआ। दो विश्व-युद्धो के अतिरिक्त, जिनका प्रभाव हमारे विचार-जगत् तथा विश्व-जीवन सम्बन्धी धारणा पर निश्चित रूप से पडा हे, स्वय हमारे देश और घर मे जो अहिसात्मक सग्राम सन् '४७ तक निरन्तर अनेक रूपो मे चलता रहा है, वह विचारो, आदर्शो तथा मान्यताओ की दृष्टि से, ज्ञात-अज्ञात रूप मे, हमे शिक्षा देता रहा है। उसने गाधीजी के व्यक्तित्व मे एक तप पूत उदार रूप धारण कर तथा अहिसात्मक युद्ध के प्रति विश्व के अन्य देशो की जनता की सद्भावना जागृत कर हमारी व्यापक मनुष्यत्व की भावना तथा आस्था सम्बन्धी दृष्टि-कोण को अपने सात्विक, सक्रिय, ओजस्वी स्पर्श से निरन्तर अनुप्राणित किया है। इसीलिए छायावाद-युग मे हिन्दी-काव्य भारतीय पुनर्जागरण की चेतना तथा लोक-जागरण के आह्वान के साथ सास्कृतिक परम्पराओ को भी युगबोध के अनुरूप नवीन वाणी दे सका है और उसका सृजन-दान अपना एक विशेष महत्त्व रखता हे।

कालाकॉकर मे मुझे अपने देश की मध्ययुगीन रूढिप्रिय सस्कृति को समझने तथा उसका विश्लेषण करने का अवसर मिला। 'ग्राम्या' के अन्तर्गत 'ग्रामदेवता' शीर्षक कविता मे मैने अपने तत्सम्बन्धी विचार प्रकट किये है। पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन से—जिससे तर्क-बुद्धि की क्षमता तथा विश्लेषण करने की शक्ति मिलती है—मुझे अपने देश के सामजस्यवादी दृष्टिकोण को समझने मे सहायता मिली। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की रचनाओ मे ग्रामजीवन मे प्रचलित मध्ययुगीन रूढियो तथा अधविश्वासो के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रिया का आभास मिलता है। इन वर्षो मे मुझे तीन-चार बार शान्ति-निकेतन जाने तथा गुरुदेव के निकट सम्पर्क मे आने का भी अवसर मिला।

मे तब सुव्यवस्थित रूप से रहने मे मुझे कठिनाई प्रतीत हुई। अलमोडे मे मेरे भाई उन दिनो माननीय पतजी तथा अन्य नेताओ के साथ कारागार मे थे। कुँवर सुरेशसिंह भी, जो नमक-सत्याग्रह के अवसर पर जेल जा चुके थे, तब अलमोडे ही मे नजरबन्द थे। इस कारण मुझे सन् '४१ मे प्राय एक वर्ष तक अलमोडे मे रहना पडा। इस अवसर पर मै वहा उदयशकर सस्कृति-केन्द्र के भी सपर्क म आया, जहाँ मै प्रारम्भ मे कुछ समय तक नाटक का क्लास लेता रहा। इन्ही दिनो मैने 'आधुनिक कवि भाग २' की भूमिका मे अपने तत्कालीन विचारो को सगृहीत करने का प्रयत्न किया, जिसमे सास्कृतिक मान्यताओ के साथ ही भौतिक मान्यताओ के पक्ष का भी समर्थन किया गया है।

सन् '४२ मे 'भारत छोडो' आन्दोलन के फलस्वरूप विदेशी सरकार के दमन ने छोटे-बडे कस्बो तथा शहरो मे जो वीभत्स रूप ग्रहण किया उससे मेरा चित्त अत्यन्त क्षुब्ध तथा अशात हो उठा। राजनीतिक सघर्ष के साथ ही मनुष्य की मानस-रचना के लिए, या उसके भीतर के सोए मनुष्य को जगाने के लिए, आज के युग मे एक समातर सास्कृतिक आन्दोलन की भी उतनी ही आवश्यकता है, ये विचार फिर-फिर मेरे मन मे उठने लगे। अपनी इस प्रेरणा के वशीभूत हो मैने सन् '४२ मे लोकायन के नाम से एक व्यापक सस्कृति पीठ की योजना बनाई जिसमे रगमच को सास्कृतिक प्रेरणा का माध्यम बनाने का विचार प्रस्तुत किया गया था। किन्तु उस नैराश्य तथा औदास्य के वातावरण मे उसे मूर्त रूप देने मे अपने को असमर्थ पाकर मै फिर अलमोडा उदयशकर सस्कृति-केन्द्र मे चला गया। इसके दो कारण थे। एक तो भाई के जेल मे होने के कारण उनके बच्चो की देख-रेख के लिए तब वहाँ कोई नही था,

नव मानवता का स्वप्न

सन् १९४५ से १९५९ तक

अल्मोडे मे, नगर से प्राय दो-ढाई मील दूर, एक एकात मनोरम स्थान मे वयोवृद्ध अमरीकी कलाकार मिस्टर-मिसेज ब्रूस्टर रहते थे, जिनके यहाँ कभी-कभी मै अपने भाई स्व० श्री देवीदत्त पत के साथ चला जाता था। वह भाई के बडे प्रशसक थे। जब भाई कारावास भोग रहे थे और मैं उदयशकर सस्कृति-केन्द्र मे रहता था, उन्होने दो-एक बार मुझे भाई के समाचार जानने के लिए बुलाया था। बडी देर तक वह अपने चित्र दिखलाते रहे, जिनमे अधिकाश अल्मोडे की आस-पास की पहाडियो तथा हिम-शिखरो के रग मुखर धूपछाँहो के दृश्य थे। मि० ब्रूस्टर के रगो के विविध मिश्रण तथा प्रयोग मुझे बहुत पसन्द थे। उन्होने मुझसे कहा, "मै ससार-भर मे घूमा हूँ, मुझे अल्मोडे-सा शान्त सुन्दर स्थान दूसरा नही मिला। अब

गुणो का विकास होने के बदले वह केवल समतल शक्तियो मे जूझने के लिए यन्त्र-मात्र बन जाय और उसे मनुष्यत्व के मूल्य पर बाह्य व्यवस्था तथा सतुलन स्थापित करना पडे तो ऐसा समाज या तन्त्र और जिसके भी योग्य हो मनुष्य के रहने योग्य नही कहा जा सकता। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न और मानसिक-आत्मिक दृष्टि से रिक्त अकिंचन मनुष्य सभवत मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। आज के राजनीतिक आन्दोलनो की एकागिता की पूर्ति तथा सर्वागीण विकास की परिपूर्णता के लिए मुझे युग-जीवन के अनुरूप एक व्यापक सास्कृतिक जागरण की भी अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसकी चर्चा मैने विस्तारपूर्वक 'उत्तरा' नामक अपने काव्य-सग्रह की भूमिका मे की है।

गाधीजी के अहिसात्मक आन्दोलन मे सास्कृतिक पुनर्जागरण की सभावनाएँ थी। स्वामी विवेकानन्द के ओजस्वी विचारो मे जो एक उन्नत आध्यात्मिक जीवन तथा व्यक्तित्व की कल्पना मिलती है उसकी पूर्ति गाधी-दर्शन तथा उनका व्यक्तित्व करता था, किन्तु युग के पलको मे जो एक विश्व लोकसस्कृति—रवीद्रनाथ के अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय सस्कृति नही—तथा भू-मानवता का स्वप्न उद्भासित हो रहा था, दर्शन की ऊर्ध्व रीढ के साथ, नैतिक सदाचार से ऊपर, जो एक सहज रस तथा सौन्दर्य की परिष्कृत मासलता के स्पर्श की आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसकी सभावना, जागरण तथा सुधारवादी आन्दोलन होने के कारण, तब मुझे मात्र गाधीवाद के ही सहारे सम्पन्न होती नही दीखती थी। गाधीवाद का आधार मुख्यत दार्शनिक अथच आध्यात्मिक आदर्शवाद रहा है, उसमे वैज्ञानिक यथार्थवाद का परिपाक नही



ही मिलता है। अपने उस ऊहापोह मे मुझे नास्तिक चिन्तन से लेकर भौतिक दर्शन तथा जैव मनोविज्ञान तक एक अन्योन्याश्रित सगति तथा एकता का आभास तो मिलता था, जैसा कि मेरी 'युगवाणी-ग्राम्या' की रचनाओ मे भी प्रकट होता है, पर उस एकता तथा सामजस्य का व्यापक स्पष्ट चित्र तब मेरी कल्पना मे नही उभर पाया था। उदयशकर सस्कृति-केन्द्र वास्तव मे नृत्य-केन्द्र था। वहाँ मूल्यो-सम्बन्धी सघर्ष तथा जिज्ञासा का समाधान मिलना सभव नही था, किन्तु वहाँ के कलात्मक वाता-वरण मे श्री अरविन्द की 'लाइफ डिवाइन' का प्रथम भाग पढने पर अपनी अनेक शकाओ का उत्तर मुझे स्वत ही मिलने लगा और विश्व तथा मन के आन्तरिक विधान-सम्बन्धी मेरा ज्ञान स्पष्ट होने लगा। एक प्रकार से मै पहला ही भाग पढकर अपनी कल्पना की सहायता से श्री अरविन्द के सम्पूर्ण दर्शन का आभास पा गया। अपने अनेक विश्वासो का मुझे श्री अरविन्द दर्शन मे समर्थन मिलने से मेरे मन मे मानव-जीवन के भविष्य के सम्बन्ध मे एक नई आशा तथा प्रेरणा का सचार होने लगा। इन्ही दिनो सयोगवश उदयशकर सस्कृति-केन्द्र मे नृत्य सीखने के अभिप्राय से पाडिचेरी आश्रम से श्री अरविन्द के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री पुराणीजी की लडकी अपनी माताजी के साथ अल्मोडे आई। माताजी अल्मोडे मे दो-एक वर्ष उसी मकान मे रही जिसमे मै उन दिनो रहता था। उनसे परिचय तथा हेल-मेल बढ जाने पर आश्रम के बारे मे अनेक विषयो का मेरा ज्ञान बढने लगा। साथ ही श्री अरविन्द के कुछ काव्य-ग्रन्थ तथा कुछ अन्य पुस्तके—'द मदर', 'लाइट्स ऑन योग', 'थॉट्स एण्ड ग्लिम्पसेज' तथा 'एसेज ऑन गीता' आदि पढकर मेरी

इसका निर्णय भविष्य ही कर सकेगा। मेरी इस काल की रचनाओं को राजनीतिक मतवाद से कटु संघर्ष करना पड़ा और उन्हें मतवादी आलोचकों का अतिरंजित आक्रोश तथा विद्वेषपूर्ण विरोध सहना पड़ा। 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की भूमिकाओं में मैंने अपनी रचनाओं के इस नवीन मोड़ पर विस्तृत विवेचन करने का प्रयास किया है। 'पल्लव', 'आधुनिक कवि', 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की विस्तृत भूमिकाओं में मुझे युग कर्दम के पर्वतों को लांघकर, काव्य-भावना के रथ को अपने साहित्यिक जीवन के चार कठिन मोड़ों से आगे बढ़ाने के लिए, कवि से आलोचक बनने को बाध्य होना पड़ा है। पल्लव युग के सामने खड़ी बोली को कविता का माध्यम बनाने तथा नवीन (छायावादी) काव्य-अभिव्यंजना को स्वीकृति मिलने का प्रश्न था। आधुनिक कवि के प्रकाशन के समय युगवाणी-ग्राम्या की भावना-धारा के रूप में भारतीय आदर्शवादी आध्यात्मिक परम्परा के अंचल में वैज्ञानिक यथार्थवाद को बांधने का प्रश्न था। उत्तरा के सम्मुख नवीन सांस्कृतिक चेतना की सुनहली किरण (स्वर्ण-किरण) के प्रकाश में भौतिक वास्तविकता का अभिनव मूल्यांकन करने की समस्या थी। और चिदम्बरा में पश्चिम के युद्धोत्तर सांस्कृतिक ह्रास तथ म०न० वर्गीय बुद्धिवादियों के व्यक्तिवाद से प्रतिरंजित हिन्दी के प्रयोगवादी साहित्य के सम्मुख विश्व-मानवता के व्यापक धरातल पर नवीन समूहीकरण के मूल्यों पर प्रकाश डालने का प्रश्न रहा है। इस प्रकार मैंने काव्य-चेतना की गहराइयों में डूबकर युग की विचार-पद्धतियों विरोधों को सुलझाने का भी विनम्र प्रयास किय है।

मेरे मद्रास के प्रवास-काल में, द्वितीय विश्वयुद्ध की

छियासठ

के भीतर कहाँ समा सकता हूँ, मै तो यही से विश्व-भर मे भ्रमण करता रहता हूँ। सच यह है कि मै सदैव अपने ही मन मे, अपने ही कल्पना-लोक के भीतर रहा हूँ और मेरे कल्पना-जगत् मे सदैव इतना जीवन का स्पन्दन रहा है कि मुझे रिक्तता का अनुभव कभी नही निगल सका है। मेरा अन्त करण किसी-न-किसी समस्या से सदैव उलझता रहा है। पर के प्रति, सर्व के प्रति उसका ऐसा स्वाभाविक तथा जन्मजात आकर्षण रहा है कि अपने बाह्य जीवन-सम्बन्धी छोटे-मोटे अभावो की ओर मुडकर या अपने सुख-दुख मे रमकर उसने कभी सोचना ही स्वीकार नही किया। सम्भवत इसीलिए अत्यन्त निर्मम परिस्थितियो में भी मुझे कुण्ठा तथा नैराश्य का अनुभव कुचल नही सका। गुजन काल मे अपने पारिवारिक वातावरण से विच्छिन्न हो जाने की छटपटाहट मे जब कभी मेरा मन बाह्य जीवन-सघर्ष से विचलित होकर अपने छोटे अस्तित्व की ओर मुडा तब उसने 'जग जीवन को ज्वाला मे गल, बन अकलुष उज्वल औ कोमल' अथवा 'मै सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' की ही इच्छा प्रकट की। 'विश्वास चाहता है मन विश्वास पूर्ण-जीवन पर' अपने क्षुद्र स्वार्थों की सीमाएँ अतिक्रम कर मेरी कल्पना सदैव व्यापक जीवन की पूर्णता के लिए मुझे लाघती रही है।

प्रयाग पहुँचने पर 'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि नामक अपने नवीन काव्य-सग्रहो के प्रकाशित हो जाने पर मैने अपने खैयाम की रुबाइयो के अनुवाद को भी इधर-उधर सँवार-सुधारकर 'मधुज्वाल' के नाम से 'भारती-भण्डार' के अनुरोध पर प्रकाशित करवा लिया। यह अनुवाद मैने सन् १६२६ मे फारसी की रुबाइयो से स्वर्गीय असगर साहब गोडवी की सहायता से किया था। इसकी

पृथक्-पृथक् साहित्यिक सस्थाओ मे विद्वेष, कटुता तथा सकीर्णता का प्रदर्शन होने लगा था। मुझ जैसे साहित्य-सेवी को, जो अपने को किसी दल का अग न बना सका, दोनो शिविरो की प्रच्छन्न-अप्रसन्नता का लक्ष्य बनना पडा। सन् '५० मे ऑल इडिया रेडियो मे परामर्शदाता के पद पर नियुक्त होने पर उस अप्रसन्नता ने व्यक्तिगत विद्वेप का क्षुद्र रूप भी धारण किया, जिसके अनेक उदाहरण उस काल की पत्र-पत्रिकाओ मे अनेक रचनाओ के रूप मे देखे जा सकते है। रेडियो का वहिष्कार मेरी दृष्टि मे आधार-हीन तथा असगत था, इसलिए वह अधिक दिन नही ठहर सका। स्वराज्य मिलने के बाद हमारे भीतर का दवा हुआ मध्ययुगीन मन बाहर निकल आया है। आज भी देश के अधिकाश लोग उसी सीमित-खडित मानसिकता से परि-चालित है, जिसे क्षीण तथा नि शेष होने मे अभी समय लगेगा। आकाशवाणी द्वारा आज देश की अन्य भापाओ के साथ हिन्दी का भी प्रसार तथा हित हो रहा है। मुझे रेडियो से सम्बद्ध होकर मानसिक लाभ ही हुआ। सन् '५७ की अप्रैल तक, जव तक मै रेडियो से प्रत्यक्ष रूप से सबद्ध रहा, मेरे 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण' तथा 'अतिमा' के नाम से चार काव्य-सग्रह प्रकाशित हुए। प्रथम तीन पुस्तको मे मेरे ग्यारह पद्यबद्ध समस्या-रूपक सगृहीत है, जिनमे मैने युग-जीवन की अनेक प्रमुख समस्याओ पर विवेचन किया है। इनमे भी 'ध्वसशेष' तथा 'सौवर्ण' नाम के मेरे काव्य-रूपक विशेप महत्त्वपूर्ण है। 'ध्वसशेप' मे मैने अणुयुद्ध के बाद नवीन जीवन-रचना की दिशा की ओर इगित किया हे। उसमे मैने वर्तमान युग का मूल्याकन भी किया है। 'सौवर्ण' मे मेरी नवीन मानवता की कल्पना का निदर्शन मिलता है। उसमे मैने अपने देश की मध्य-

मेरी 'ज्योत्स्ना-ग्राम्या' मे निहित आदर्श यथार्थवादी विचारधाराएँ मेरे चेतना-काव्य मे एक व्यापक सास्कृतिक सामजस्य मे विकसित होकर धरती पर नवीन लोक-जीवन, विश्व-मानवता तथा मानव-एकता की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट रही है। मानव-एकता का सत्य मानव-समानता के सत्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु समानता के सत्य को अतिक्रम कर मानव-एकता की स्थापना सम्भव नही। वैज्ञानिक युग की विकसित परिस्थितियो के अनुरूप मानवता के वहिरन्तर जीवन का समूहीकरण होना अनिवार्य है। इसकी जितनी उपेक्षा की जायगी यह सर्वव्यापी समानता की भावना उतनी ही सशक्त तथा उग्र होती जायगी। आज जब हम साहित्य मे वैयक्तिक मूल्यो के मोह या दर्प मे सामूहिकता के मूल्यो की अवहेलना करते है तब हम भूल जाते है कि किसी पिछले ऐतिहासिक युग या युगो मे मानवता का पिछली (सामन्तकालीन) परिस्थितियो के अनुरूप समूहीकरण एव सामजस्यीकरण हो चुका है। आज की हमारी क्षुद्र अहता अथवा पृथक् वैयक्तिकता उसी विगत सगठित चैतन्य की स्फुलिग मात्र है और उसी सास्कृतिक क्षितिज के भीतर ऊब-डूब करती है। उसे हम अधिक महत्त्व देकर मानवता के नवीन समूहीकरण के पथ मे बाधा उपस्थित करते है। द्वितीय युद्ध के बाद पश्चिमी विवेकवादी, अस्तित्ववादी, पुनर्जागरणवादी या ह्रासोन्मुख कुण्ठावादी साहित्य से प्रभावित आज की हमारी नवीनतम साहित्य की कुछ धाराएँ भी उसी मरणोन्मुख विगत मानव चैतन्य की टिमटिमाती हुई, क्षणदीप्त, आत्ममुग्ध, क्षीण लौ है, जिन्हे व्यापक समूहीकरण के मूल्यो मे मिलकर स्वय को विकसित तथा सामूहिक उन्नयन की धारा को अधिक व्यापक, वैचित्र्यपूर्ण तथा समृद्ध बनाना है। नवीन सामूहिकता का भविष्य

तभी उज्ज्वल हो सकेगा जब वह विगत सांस्कृतिक समय को आत्मसात् कर सकेगी। अतः आज के साहित्यकार के बाह्य संचरण को व्यापक तथा धैर्यशील तथा वैयक्तिकता के अन्तःसंचरण को विकसित तथा प्रगतिशील बनाना पड़ेगा। साहित्यकार का विरोध आज के युग में केवल सन्देहवाद, कुण्ठावाद तथा निम्न चिन्तन अहंतावाद को ही जन्म देगा। मानव-चेतना का संचरण धरती पर अपनी परिपूर्णता में तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा, जब तक समानता का सांस्कृतिक संचरण उसके लिए उपयुक्त परिस्थितियों का ढाँचा प्रस्तुत नहीं कर सकेगा। सांस्कृतिक संचरण का अधिकाधिक सदुपयोग तभी हो सकेगा जब हम वर्गित-निर्मम तथा पदभ्रान्त न बनकर सन्तुलित तथा उदार बनें और उचित मानवीय साधनों के प्रयोग द्वारा इसको ही प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करें, अन्यथा उसका विरोध तथा उसकी विकृतियों का आना अनिवार्य है। आज का युग अवतरण का उत्थान का युग नहीं, वह राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि सभी दृष्टियों से, निःसन्देह, विचरण का युग है।

मेरी सन् ५८ की रचनाओं का संग्रह '[illegible]' और [illegible] हाल ही में प्रकाशित हुआ है। ये रचनाएँ, रचनाकाल की दृष्टि से मेरी पिछली रचनाओं से कुछ भिन्न हैं। [illegible]

सामाजिक तथा सास्कृतिक कार्य को समर्पित करना चाहता हूँ। धरती की करुणा और काल का वरदान ही मेरे इन स्वप्नो को पूरा कर सकते है। युगवाणी मे मैंने लिखा था

'सघर्षों मे शान्ति बनूँ मै !'

अधकार मे पड जीवन के अधकार की कान्ति बनू मै।'

अपने भीतर अब भी मै नवीन चेतना के सघर्ष के गम्भीर मेघ उमडते पाता हूँ और अब भी 'युगवाणी' के युग की अभीप्सा मेरे भीतर ज्यो-का-त्यो अपना कार्य करती प्रतीत होती है। इसमे सन्देह नही कि सबसे पहले मेरे भीतर प्राप्ति का सघर्ष रहा है, 'ग्राम्या' के बाद सचय करने का और अब अपने मानस-सचय को विनम्र अजलि के रूप मे धरती के चरणो पर सँजोने का। इस धरती के जीवन के प्रति अपने को सार्थक रूप मे समर्पित करने का सघर्ष मे निरन्तर अपने अन्तरतम मे जागरूक पाता हूँ। भविष्य को क्या स्वीकार है, इसे कौन जानता है ! इन लेखो के उपसहार रूप मे इतना ही कहने की इच्छा होती है कि अजेय अपरिमेय अक्षमताओ का नाम ही मनुष्य का व्यक्तित्व है। भीतरी अयोग्यता के अतिरिक्त बाहरी परिस्थितियो की बाधाओ के दुर्लघ्य पर्वत मेरे मन सस्कार, कवि कर्म प्रेरणा, आत्म-प्रस्फुटन या विकास के पथ मे रहे है। अपनी रचनाओ तथा व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे इन लेखो मे विस्तारपूर्वक कहना सभव नही था। अपने सम्बन्ध मे मैने उतना ही कहना यथेष्ट समझा जितना अपने साहित्यिक जीवन की विकास-रेखा को स्पष्ट करने के लिए मुझे अनिवार्य प्रतीत हुआ। फिर भी कही उसमे अनुचित रूप से अतिरजना अथवा आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो तो उसके लिए खेद प्रकट करता हूँ। स्वतन्त्रता मिलने के बाद हमारे साहित्य

से अनेक प्रकार की स्वस्थ-अस्वस्थ प्रवृत्तियों का उदय हुआ है। यह हमारे आत्म-निरीक्षण-परीक्षण का पहला ही चरण है। अभी हमारी सृजन-चेतना अपने दीर्घ-कालीन आत्म-दमन की कुण्ठाओं, पीड़ाओं तथा द्वन्द्वों से मुक्त नहीं हुई है, वह उन्हीं को वाणी देकर मुक्ति का अनुभव कर रही है। आज हमारी नयी पीढ़ी परस्पर की स्पर्धाओं से पीड़ित हो दूसरों पर अवांछित प्रहार तथा अनर्गल आक्षेप करने की स्वच्छन्दता प्राप्त कर अपने में साहस तथा बल का अनुभव कर रही है। जीवन की परिस्थितियों के सन्तुलित तथा मानसिक वातावरण के स्वच्छ, स्निग्ध तथा शान्त होने पर हम एक-दूसरे की कृतियों का मूल्यांकन अधिक निष्पक्षता के साथ, पूर्वग्रह तथा दलबन्दियों से मुक्त होकर कर सकेंगे और आने वाले युग की सृजन-प्रेरणा अधिक उमगेगी तथा हमारी कृतित्व की जन्मदायी बन सकेगी, इन्हीं शुभ कामनाओं के साथ इन संस्मरणों को समाप्त करता हूँ।

